3 1761 07810117 7

सुदर्शन सुमन

UNIVERSITY OF TORONTO
LIBRARY

WILLIAM H. DONNER
COLLECTION

purchased from
a gift by

THE DONNER CANADIAN
FOUNDATION

MUNSHIRAM MANOHARLAL
Oriental Booksellers & Publishers
Post Box 1165, DELHI-6, INDIA

सुदर्शन-सुमन

[उत्कृष्ट मौलिक कहानियां]

Sudarśana - Sumana

Sudarśan

सुदर्शन

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

PK
2098
S8A15

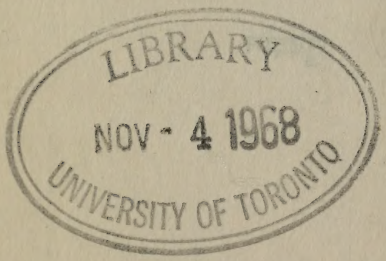

मूल्य : तीन रुपये पचास पैसे
प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
मुद्रक : हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली

क्रम

राजा	५
गुरु-मंत्र	१८
दिल्ली का अन्तिम दीपक	३४
बचपन की एक घटना	५२
धर्म-सूत्र	६३
परिवर्तन	८७
अमर जीवन	८९
एथेन्स का सत्यार्थी	९८
अठन्नी का चोर	१०८
हंस की चाल	१२०
काया-पलट	१३७
अपनी कमाई	१५८
एक स्त्री की डायरी	१६०
अन्धकार	१७३
प्रेम-तरु	१९२
पराजय	२१०

राजा

"सौ साल !"

मैं चौंक पड़ा। मुझे अपने कानों पर विश्वास न आया। मैंने कापी मेज़ पर रख दी और अपनी कुरसी को थोड़ा-सा आगे सरकाकर पूछा, "क्या कहा तुमने ? सौ साल ? तुम्हारी उम्र सौ साल ?"

तीनों कोटों को एकसाथ बांधते हुए धोबी ने मेरी तरफ देखा और उत्तर दिया, "हां बाबू साहब ! मेरी उम्र सौ साल है। पूरी सौ साल। न एक साल कम, न एक साल ज़्यादा। मेरी सूरत देखकर बहुत लोग धोखा खा जाते हैं।"

"मगर तुम इतने बड़े मालूम नहीं होते। मेरा विचार था, तुम सत्तर साल से ज़्यादा न होंगे।"

"नहीं बाबू साहब ! पूरे सौ साल खा चुका हूं।"

"बड़े भाग्यवान हो। आजकल तो लोग पचास साल से पहले ही तैयारी कर लेते हैं।"

धोबी ने इसका कोई उत्तर न दिया।

सहसा मेरे हृदय में एक विचार उत्पन्न हुआ। मैंने पूछा, "अच्छा भाई धोबी ! यह तो कहो, तुमने सिक्खों का राज्य तो देखा होगा।"

"हां, देखा है।"

"उस राज्य में तुम सुखी थे या नहीं ? मेरा मतलब यह है, उस

राज्य में लोगों की क्या दशा थी ?"

धोबी ने मेरी ओर सतृष्ण नेत्रों से देखा, जैसे किसीको भूली हुई बात याद आ जाए; और ठण्डी सांस भरकर बोला, "मैं उस ज़माने में बहुत छोटा था। सिक्खों का राज्य कैसा था, यह नहीं बता सकता। हां, सिक्खों का राजा कैसा था, यह कह सकता हूं।"

मेरे हृदय में गुदगुदी-सी होने लगी, पूछा, "तो तुमने महाराज का दर्शन किया है ?"

"हां सरकार ! दर्शन किया है। क्या कहना ! अजीब आदमी थे। उनकी वह शकल-सूरत याद आती है तो दिल में भाले-से चुभ जाते हैं। बहुत दयालु थे। राजा थे, मगर स्वभाव साधुओं का सा था। घमण्ड नाम को भी न था। मैं आपको एक बात सुनाता हूं। शायद आपको उस पर विश्वास न आए। आप कहेंगे, वह कहानी है। मगर यह कहानी नहीं, सच्ची घटना है। इसमें झूठ ज़रा भी नहीं। इसे सुनकर आप खुश होंगे। आपको अचरज होगा। आप उछल पड़ेंगे। मैं मामूली हिन्दी जानता हूं, पर मैंने बहुत किताबें नहीं पढ़ीं। आप रात-दिन पढ़ते रहते हैं। परन्तु मुझे विश्वास है, ऐसी घटना आपने भी कम पढ़ी होगी।"

मैं दत्तचित्त होकर सुनने लगा।

२

मैं धोबी हूं। मेरा बाप भी धोबी था। हम उन दिनों लाहौर ही में रहते थे। पर आज का लाहौर वह लाहौर नहीं। हम उस ज़माने में जहां कपड़े धोया करते थे, वह घाट अब खुश्क हो चुका है। रावी नदी दूर चली गई है, और उसके साथ ही वे दिन भी दूर चले गए हैं। भेद केवल यह है कि रावी थोड़ी दूर जाकर नज़र आ जाती है, मगर वह ज़माना कहीं दिखाई नहीं देता। भगवान जाने, वह कहां चला गया है।

मेरी उम्र उन दिनों सात-आठ साल की थी, जब चारों तरफ अकाल का शोर मचा। ऐसा अकाल इसके पहले किसीने न देखा था। लगा-

तार अढ़ाई साल वर्षा न हुई । किसान रोते थे । तालाब, नदी, नाले सब सूख गए। पानी सिवाय आंखों के कहीं नज़र न आता था । मुझे वे दिन आज भी कल की तरह याद हैं जब हम लंगोटे लगाए, मुंह काले कर बाज़ारों में डण्डे बजाते फिरते कि शायद इसी तरह वर्षा होने लगे। मगर वर्षा न हुई। लड़कियां गुड़ियां जलाती थीं; और उनके सिर पर खड़ी होकर छाती कूटती थीं । पानी बरसाने का यह नुस्खा उस युग में बड़ा कारगर समझा जाता था; लेकिन उस समय इनसे भी कुछ न बना। मुसलमान मसजिदों में नमाज़ पढ़ते, हिन्दू मन्दिरों में पूजा करते, सिक्ख गुरुद्वारों में ग्रंथ साहब का पाठ करते। मगर वर्षा न होती थी । भगवान कृपा ही न करता था । दुनिया भूखों मरने लगी। बाज़ारों में रौनक न थी, दुकानों पर ग्राहक न थे, घरों में अनाज न था। ऐसा मालूम होता था, जैसे प्रलय का दिन निकट आ गया है और सबसे बुरी दशा जाटों की थी। मेरा बाबा कहता था, इस समय उनके चेहरे पर खुशी न थी। आंखों में चमक न थी, शरीर पर मांस न था। सबकी आंखें आकाश की ओर लगी रहती थीं मगर वहां दुर्भाग्य की घटाएं थीं, पानी की घटाएं न थीं। अनाज रुपये का बीस सेर बिकने लगा।

मैंने आश्चर्य से पूछा—"बीस सेर ?"

"जी हां, बीस सेर ! उस समय यह भी बहुत महंगा था । आजकल रुपये का सेर बिकने लगे, तो भी बाबू लोग अनुभव नहीं करते । मगर उस समय वह दशा न थी। मेरे घर में एक मैं था, एक मेरा बूढ़ा बाबा, एक विधवा मां, दो बहनें। इन सबका खर्च चार-पांच रुपये मासिक से अधिक न था ।

मैंने अधीरतावश बात काटकर पूछा—"फिर ?"

"हां तो फिर क्या हुआ। अनाज बहुत महंगा हो गया, लोग रोने लगे। अन्त में यहां तक नौबत आ पहुंची कि हमारे घर में खाने को न रहा । ज़ेवर, बरतन सब बेचकर खा गए । केवल तन के कपड़े रह गए। सोचने लगे, अब क्या होगा । मेरा बाबा, भगवान उसे स्वर्ग में

जगह दे, बड़ा हंसमुख मनुष्य था। हर समय फूल की तरह खिला रहता था। प्रायः कहा करता था जो संकट आए हंसकर काटो। रोने से संकट कम नहीं होता, बढ़ता है। मैंने सुना है, मेरे बाप के मरने पर उसकी आंख से आंसू की बूंद न गिरी थी। परन्तु इस समय वह भी रोता था। कहता था, कैसी तबाही है, बाल-बच्चे सामने भूखों मरते हैं और मैं कुछ कर नहीं सकता। यहां तक कि कई दिन तक हमने वृक्षों के पत्ते उबालकर खाए।

एक दिन का ज़िक्र है। बाबा आंगन में बैठा हुक्का पीता था, और आकाश की तरफ देखता था। मैंने कहा, "बाबा! अब नहीं रहा जाता। कहीं से रोटी का टुकड़ा ला दो! पत्ते नहीं खाए जाते।"

बाबा ने ठण्डी सांस भरी और कहा, "अब प्रलय का दिन दूर नहीं।"

मैं—प्रलय क्या होती है?

बाबा—जब सब लोग मर जाते हैं।

मैं—तो क्या अब सब लोग मर जाएंगे?

बाबा—और क्या बेटा! जब खाने को न मिलेगा, तब मरेंगे नहीं तो और क्या होगा?

मैं—बाबा! मैं तो न मरूंगा। मुझे कहीं से रोटी मंगवा दो। बहुत भूख लगी है।

बाबा की आंखों में आंसू आ गए। भर्राई हुई आवाज़ से बोला, "ऐसा ज़माना कभी न देखा था। तुम वृक्षों के पत्तों से उकता गए हो। गांव के लोग तो मेंढ़क और चूहे तक खा रहे हैं।"

मैं—बाबा! ऐसी चीज़ें वे कैसे खा लेते हैं?

बाबा—पेट सब कुछ करा लेता है।

मैं—पर ये चीज़ें बड़ी घृणित हैं।

बाबा—इस समय कौन परवाह करता है, भाई!

मैं—उनका जी कैसे मानता होगा ?

बाबा—भगवान किसी तरह यह दिन निकाल दे।

मैं—बाबा, मेंह क्यों नहीं बरसता ?

बाबा—हमारी नीयतें बदल गई हैं। वर्ना ऐसा समय कभी न सुना था। आज हरएक दृष्टि में लाली है मानो हर आंख में खून है, पानी नहीं है। तुम अजान हो, जाओ, कहां से मांग लाओ। शायद कोई तरस खाकर तुम्हें रोटी का एक टुकड़ा दे दे।

मैं—तो जाऊं ?

बाबा—भगवान अब मौत दे दे। गरीब थे, पर किसीके सामने हाथ तो न फैलाते थे।

२

मैं भूख से मर रहा था, रोटी मांगने को निकल पड़ा। मेरा विचार था, अकाल शायद गरीबों के यहां ही है। मगर बाहर निकला, तो सभी को गरीब पाया। उदास सब थे, खुश कोई भी न था। मैं बहुत देर तक इधर-उधर मांगता फिरा, मगर किसीने रोटी न दी। मैं निराश होकर घर लौटा, पर पांव मन-मन के भारी हो रहे थे।

सहसा एक जगह लोगों का समूह नजर आया। मैं भी भागकर चला गया। देखा, सरकारी आदमी मुनादी कर रहा है, और लोग उसके गिर्द खड़े खुश हो रहे हैं। मैं चकित रह गया। मैं समझ न सका था कि उनके खुश होने का कारण क्या है। मगर थोड़ी देर बाद रहस्य खुल गया। महाराज रणजीतसिंह ने शाही किले में अनाज की कोठड़ियां खुलवा दी थीं, और घोषणा कर दी थी कि जिस-जिस गरीब को आवश्यकता हो, ले जाए, दाम न लिया जाएगा। लोग महाराज की इस उदारता पर चकित रह गए। कहते थे, ये आदमी नहीं, देवता हैं। मुसलमान कहते थे, कोई औलिया हैं। अब खुदा की खलकत भूखों न मरेगी। खुदा नहीं सुनता, राजा तो सुनता है। खलकत के लिए राजा ही खुदा है।

एक आदमी कह रहा था, महाराज ने आदमी बाहर भेजे हैं कि जितना अनाज मिल सके, खरीद लाओ। मेरी प्रजा मेरी सन्तान है, मैं उसे भूखा न मरने दूंगा।

दूसरा आदमी बोला, "मगर महाराज पहले क्या सो रहे थे ? यह विचार पहले क्यों न आया, अब क्यों आया है ?"

पहले आदमी ने उत्तर दिया, "महाराज सोते नहीं थे, जागते थे। हर समय पूछते रहते थे कि अब अनाज का क्या भाव है, अब लोगों का क्या हाल है ? कल तक यही पता था कि अनाज महंगा है। आज समाचार पहुंचा कि बाज़ार में अनाज का दाना भी नहीं मिलता। महाराज घबरा गए कि अब क्या होगा ? आखिर उन्होंने आदमी बाहर भेज दिए कि जितना अनाज मिल सके, खरीद लाओ। मैं लोगों में मुफ्त बांटूंगा। मेरे कोष में रुपया रहे या न रहे, मगर लोग बच जाएं।"

एक हिन्दू बोला, "इन्होंने तो कह दिया कि महाराज क्या पहले सोते थे ? यह मालूम नहीं, महाराजाओं को एक की चिन्ता नहीं होती, सबकी चिन्ता होती है।"

दूसरा—भाई, मेरा यह अभिप्राय थोड़े ही था।

पहला—एक और बात भी है। महाराज ने बाहर के किलेदारों को भी यही आज्ञा भेजी है।

दूसरा—आफरीन है। राजा हो तो ऐसा हो।

तीसरा—कोई और होता तो कहता, वर्षा नहीं हुई तो इसमें मेरा क्या दोष है। मेरे राजभवन में तो सब कुछ है।

दूसरा—इस समाचार से मरते हुए लोगों में जान पड़ जाएगी।

तीसरा—आज शहर की दशा देखना।

पहला—किसीकी आंख में चमक न थी।

दूसरा—ऐसा अंधेर कभी न हुआ था।

तीसरा—पर अब परमेश्वर ने सुन ली।

मैं यहां से चला तो ऐसा प्रसन्न था जैसे कोई अनमोल चीज़ पड़ी

मिल गई हो। कुछ देर संयम करके मैं धीरे-धीरे चला, फिर दौड़ने लगा। डरता था कि यह शुभ समाचार घर में मुझसे पहले न पहुंच जाए। मैं चाहता था, घर के लोग यह खबर मुझ ही से सुनें। गोली के सदृश भागा जाता था, मगर घर के पास पहुंचकर गति कम कर दी और धीरे-धीरे घर में दाखिल हुआ। मेरा बाबा उसी तरह सिर झुकाए बैठा था। मेरा हृदय खुशी से धड़कने लगा—वह अभी तक नहीं जानता था।

मुझे खाली हाथ देखकर बाबा ने ठण्डी सांस भरी और सिर झुका लिया। मैंने जाकर बाबा का हाथ पकड़ लिया और उसे ज़ोर से घसीटता हुआ बोला, "उठो, चादर लेकर चलो, महाराज ने मुनादी कर दी है, अनाज मुफ्त मिलेगा।"

मेरी मां, मेरी बहनें, मेरा बाबा सब चौंक पड़े। उनको मेरे कहने पर विश्वास न हुआ। सिर हिलाते थे और कहते थे, "बच्चा है, किसीने मज़ाक किया होगा। यह सच समझ बैठा है, भला महाराज सारे शहर को अनाज मुफ्त कैसे दे देंगे? बहुत कठिन है।"

मगर मैंने कहा, "मैंने मुनादी अपने कानों से सुनी है। यह गलत नहीं है। लोग सुनते थे, खुश होते थे। तुम चादर लेकर मेरे साथ चलो।"

मेरा बाबा चादर लेकर मेरे साथ चला। उसको अभी तक संदेह था कि यह मज़ाक है। लेकिन बाज़ार में आकर देखा तो हज़ारों लोग उधर ही जा रहे थे। अब उसको मेरी बात पर विश्वास हुआ।

किले में पहुंचे तो वहां आदमी ही आदमी थे। पर किसी अमीर को अन्दर जाने की आज्ञा न थी। फाटक पर सिपाही खड़े थे। वे जिसके कपड़े सफेद देखते उसे रोक लेते। कहते, यह अनाज गरीबों की सहायता के लिए है, अमीरों के घर तो अब भी भरे हुए हैं। यह गरीबों का लंगर था, अमीरों का भोज न था। मेरी इतनी उम्र हो गई है। मैंने अमीरों के लिए सब दर खुले देखे हैं, उनको कहीं रोक-टोक नहीं होती। पर वहां अमीर खड़े मुंह ताकते थे, और उनकी कोई परवाह न करता था।

हम गरीब थे, हमें किसीने नहीं रोका। हम अन्दर चले गए। वहां देखा कि सैंकड़ों सरकारी आदमी तराजू लिए बैठे हैं, और तोल-तोलकर २०-२० सेर अनाज सबको देते जाते हैं। लेकिन हर घर में एक ही आदमी को देते, दूसरों को लौटा देते थे। लोग बहुत थे, आगे बढ़ना आसान न था। मैं छोटा था, मेरा बाबा बूढ़ा था, और हमारे साथ कोई जवान आदमी न था। हमने कई आदमियों से मिन्नत की कि हमें भी अनाज दिलवा दो, मगर उस आपाधापी के समय किसीकी कौन सुनता है! मेरे बाबा ने दो बार आगे बढ़ने का प्रयत्न किया, मगर दोनों बार धक्के खाकर बाहर आ गया। तब मैं और मेरा बाबा दोनों एक तरफ खड़े हो गए और अपनी विवशता पर कुढ़ने लगे।

४

सन्ध्या के समय जब अंधेरा हो गया, तब शंख के बजने की आवाज़ सुनाई दी। इसके साथ ही अनाज देनेवालों ने अनाज देना बन्द कर दिया। हुक्म हुआ, बाकी लोग कल आकर ले जाएं। लेकिन अगर कोई दुबारा आ गया तो उसकी खैर नहीं, महाराज खाल उतरवा लेंगे। लोग निराश हो गए, पर क्या करते! धीरे-धीरे सारा आंगन खाली हो गया। हम कैसे चले जाते? कई दिन से भूखे मर रहे थे। दोनों रोने लगे। बाबा बोला, "बेटा! हम कैसे अभागे हैं, नदी के किनारे आकर भी प्यासे लौट रहे हैं। जो भाग्यवान थे, वे झोलियां भरकर ले गए। हम खड़े देखते रहे। अब खाली हाथ लौट जाएंगे।

मैं—बाबा! उनसे कहो, हमें दे दें। हम बहुत भूखे हैं।

बाबा—कौन सुनेगा? चलो घर चलें। अनाज न मिलेगा, गालियां, मिलेंगी।

मैं—तुम कहो तो सही।

बाबा—बेटा! तुम कैसी बातें करते हो! ये लोग अब न देंगे, कल फिर आना पड़ेगा।

मैं—तो आज क्या खाएंगे !

बाबा—गरीबों के लिए गम के सिवा और क्या है ? आज की रात और सब्र करो।

मैं—बाबा ! मैं तो न जाऊंगा। कहो, शायद दे दें।

बाबा—तुम पागल हो ! क्या मैं भी तुम्हारे साथ पागल हो जाऊं ?

इतने में एक सरदार आकर हमारे पास खड़ा हो गया, और बोला—अब जाते क्यों नहीं ? कल आ जाना, आज अनाज न मिलेगा।

बाबा—(ठण्डी सांस भरकर) जाते हैं सरकार !

इस विवशता से उन सरदार साहब का दिल पसीज गया। ज़रा ठहरकर बोले, "तुम कौन हो ?"

बाबा—धोबी हैं।

सरदार—कल न आ सकोगे ?

बाबा—आने को तो सिर के बल आएंगे, पर गरीब आदमी हैं। मैं बुड्ढा हूं, यह अभी बच्चा है। भीड़ में पता नहीं कल भी अवसर मिले, न मिले। आज मिल जाता तो रात को पीसकर खा लेते।

सरदार—तुम्हारे यहां कोई जवान आदमी नहीं है ?

बाबा—नहीं सरकार ! इस बालक का बाप था, वह भी मर गया।

सरदार—तो कल आना कठिन है तुम्हारे लिए ?

मैं—सरकार, आज ही दिला दें।

सरदार—(हंसकर) आओ आज ही दिला दूं।

मैं—बाबा कहता था, आज न देंगे। क्यों बाबा ?

सरदार साहब हंसने लगे, मगर मेरे बाबा ने मुझे संकेत किया कि चुप रहो। मैं चुप हो गया। सरदार साहब ने कहा, "आओ तुम्हें दिला दूं।"

हम सरदार साहब के पीछे-पीछे चले। उन्होंने अनाज के ढेर के पास पहुंचकर एक आदमी से कहा, "इस बुड्ढे को बीस सेर गेहूं दे दो।"

वह आदमी मेरे बाबा से बोला, "चादर फैला दो।" और गेहूं तोलने लगा।

मेरा बाबा बोला, "सरकार ! अब फिर कब मिलेगा ?"

सरदार—अगले सप्ताह।

बाबा—हम कई दिन से भूखों मर रहे हैं।

सरदार—(हंसकर) तो और क्या चाहते हो ?

बाबा—सरकार ! कहते हुए शर्म आती है, क्या करूं ?

सरदार—नहीं, कह दो। कोई बात नहीं।

बाबा—बीस सेर और दिला दें तो बड़ी कृपा हो। आपकी जान को दुआएं देता रहूंगा।

सरदार—बड़े लोभी हो।

बाबा—सरदार साहब, पेट मांगता है तब जीभ खुलती है, नहीं तो हम ऐसे बेगैरत कभी न थे।

सरदार—अगर इसी तरह तमाम लोग करें तो कैसे पूरा पड़े ?

बाबा—सरकार ! राजा के महल में मोतियों की क्या कमी है ! नहीं होता तो न दें, फिर द्वार पर आ पड़ेंगे। शहर में बड़ा यश हो रहा है। (मुझसे) बेटा ! नमस्कार कर। इन्होंने हमें बचा लिया, नहीं रात रोते कटती।

मैं—(आगे बढ़कर) नमस्कार !

सरदार—(मुस्कराकर) जीते रहो बेटा ! तुम्हारा क्या नाम है ?

मैं—जग्गो।

सरदार—अब अनाज मिल गया न, जाओ रोटियां पकाकर खाओ।

मैं—सरकार ! बीस सेर और दिला दें।

सरदार—अरे ! तू तो बाबा से भी लोभी निकला।

मैं—नहीं सरकार, बीस सेर और दिला दें।

सरदार—(अनाज तौलने वाले से) बीस सेर और तोल दे। बूढ़ा बाबा बार-बार कैसे आएगा ?

बीस सेर और मिल गया।

सरदार—बाबा, अब तो खुश हो गए ?

बाबा—वाहे गुरू आपका यश दूना करे।

सरदार—महाराज की जान को दुआ दो। यह सब उनकी कृपा है, नहीं तो लोग भूखों मर जाते और सच पूछो तो यह उनका धर्म था। न करते तो पाप के भागी बनते, राजा प्रजा का पिता होता है।

बाबा—सच है सरकार ! महाराज ऋषि हैं।

सरदार—ऋषि तो क्या होंगे। आदमी बनें तो यह भी बड़ी बात है।

अब तक सब तोलनेवाले आदमी जा चुके थे। किले में हमीं थे, और कोई न था। सरदार साहब बोले, "अब उठाकर ले जाओ।"

गरीब दावत में जाकर खाता बहुत है, यह नहीं सोचता, पचेगा या नहीं। बाबा ने भी अनाज ले बहुत लिया; अब उठाना मुश्किल था। क्या करे, क्या न करे। उस समय सिक्खों का वही रोब था, जो आज अंग्रेज़ों का है। बाबा सहमकर बोला—सरदार साहब, गठरी भारी है। कोई सिर पर रख दे तो ले जाऊं।

सरदार साहब ने गठरी उठाकर मेरे बाबा के सिर पर रख दी।

बाबा दो कदम चलकर गिर गया।

सरदार साहब बोले, "क्यों भाई ! इतना अनाज क्यों बंधवा लिया जो उठाए नहीं उठता। बीस सेर लेते तो यह तकलीफ न होती। लोभ करते हो, अपनी देह की ओर नहीं देखते। जाओ, अपने किसी आदमी को बुला लाओ। तुमसे न उठेगा।"

मेरे बाबा ने आह भरी और कहा, "सरकार ! मेरी सहायता कौन करेगा ?"

सरदार साहब ने कुछ देर सोचा, फिर वह गठरी अपने सिर पर उठाकर चलने लगे। हम दंग रह गए। हमारे शरीर के एक-एक अंग से उनके लिए दुआ निकल रही थी। हम सोचते थे, ये आदमी नहीं, देवता हैं।

५

यहां पहुंचकर धोबी रुक गया। कहानी ने बहुत मनोरंजक रूप धारण कर लिया था। मैं इसका अगला भाग सुनने को अधीर हो रहा था। मैंने जल्दी से पूछा ! क्यों भाई धोबी ! फिर क्या हुआ ?

धोबी ने वायुमण्डल में इस भांति देखा, जैसे कोई खोई वस्तु को खोज रहा हो, और फिर दीर्घ निश्वास लेकर बोला : जब हम घर पहुंचे और सरदार साहब अनाज की गठरी हमारे आंगन में रखकर लौटे तो मैं और मेरा बाबा दोनों उनके साथ बाज़ार तक चले आए। मेरा बाबा बार-बार कहता था, इसका फल आपको वाहे-गुरू देंगे, मैं इसका बदला नहीं दे सकता। एकाएक उधर से कुछ फौजी सिक्ख निकल आए। वे सरदार साहब जहां खड़े थे, वहां रोशनी थी। फौजियों ने उनको पहचान लिया और तलवारें निकालकर सलाम किया। यह देखकर मेरा बाबा डर गया, सोचा—यह कौन है ? कोई बड़ा ओहदेदार होगा, वर्ना ये लोग इस प्रकार सलाम न करते।

जब सरदार साहब चले गए तब मेरा बाबा उन फौजियों के पास पहुंचा और पूछा, "यह कौन थे ?"

उनमें से एक ने बाबा की तरफ आश्चर्य से देखा और जवाब दिया, "तुम नहीं जानते ? ये हमारे महाराज थे।"

बाबा चौंक पड़ा। उसकी आंखें खुली रह गईं। उसके मुंह से एक शब्द भी न निकला।

ये महाराज थे। वही महाराज, जिनकी आंख के इशारे पर फौजों में हलचल मच जाती थी, जो अपने युग के सबसे बड़े राजा थे,

जिनके सामने अभ्युदय हाथ बांधता था। आज ये एक धोबी के घर गेहूं की गठरी छोड़ने आए हैं। ये सच्चे महाराज हैं। इनका राज्य दिलों पर है।

उस रात हमें नींद न आई। सारा घर जागता था और महाराज के लिए दुआ मांगता था। दूसरे दिन बड़े ज़ोर की वर्षा हुई।

यह कहानी सुनाकर धोबी चुप हो गया। मेरे रोयें खड़े हो गए। आंखों में पानी भर आया। आज वह समय कहां चला गया? आज ऐसे राजा लोग क्यों नहीं नज़र आते? उनको भ्रमण का शौक है, विषय-वासना का चाव है, परन्तु अपनी प्रजा के हित-अहित का ध्यान नहीं।

मैंने धोबी की तरफ देखा; उसकी भी आंखें सजल थीं। मैंने ठण्डी सांस भरी।

धोबी ने कपड़े गिनकर कहा, "बाबू साहब! लिखिए चौदह पायजामे, बीस कमीज़ें।"

मैंने कापी उठा ली और लिखने लगा।

गुरु-मंत्र

आधी रात के समय नवयुवक एकनाथ ने बहुत धीरे से अपने मकान का दरवाज़ा खोला और बाहर निकल आया। गली, बाज़ार, गांव—सब सुनसान और अन्धकारमय थे। एकनाथ ने एक क्षण के लिए ठहरकर अपने घर की तरफ देखा, अपने बूढ़े बाबा और निर्बल दादी का ख्याल किया, अपने मित्र-बन्धुओं के विषय में सोचा और उसकी आंखों में पानी आ गया। मगर यह निर्बलता कुछ ही क्षणों के लिए थी, जैसे कभी-कभी पंछी पर खोलते समय रुक जाता है। एकाएक उसने आंसू पोंछ डाले और जल्दी-जल्दी पांव उठाता हुआ गांव से बाहर चला गया। पिंजरे में दाना-पानी सब कुछ था, परन्तु पंछी ने किसीकी भी परवा न की और उड़ गया। चारों ओर अंधेरा था। दूर काले वृक्षों की काली छाया-तले कुत्ते और गीदड़ों के रोने की आवाज़ें सुनाई दे रही थीं। घर में बूढ़े बाबा और दादी का वात्सल्य बेसुध पड़ा था, मगर एकनाथ सम्पूर्ण दृढ़ता से झाड़ियों में उछलता हुआ, गड्ढों में गिरता हुआ, पत्थरों से ठोकरें खाता हुआ आगे चला जाता था, और उसे इस बात की ज़रा भी चिन्ता न थी कि मार्ग भयानक है और रात के अंधेरे में कई बलाएं छिपी हो सकती हैं।

प्रातःकाल जब दो बूढ़ों के हृदय-विदारक आर्तनाद से पैठन गांव में कुहराम मचा हुआ था, वह कई कोस की यात्रा समाप्त कर चुका था ; और एक नदी के किनारे बैठा अपने पांव धो रहा था

जिन्हें जंगल के कांटों ने लहूलुहान कर दिया था। उसकी देह रतजगी यात्रा से चूर-चूर हो रही थी। परन्तु उसके विचार आशा के आकाश में उड़े चले जाते थे, और उन्हें रोकने की शक्ति पृथ्वी की किसी भी वस्तु में न थी। थोड़ी देर के बाद वह उठा और अपने गांव की तरफ मुंह करके खड़ा हो गया। इस समय वह अपने घर की दशा का चिन्तन कर रहा था और अपनी आन्तरिक आंखों से वहां के दृश्य देख रहा था। हम अपना घर छोड़ सकते हैं, परन्तु उसकी स्मृति को भूलना आसान नहीं।

इतने में एक मुसाफिर घोड़े पर सवार उधर से गुज़रा और एकनाथ के पास पहुंचकर रुक गया। एकनाथ ने दोनों हाथ बांधकर अभिवादन किया। मुसाफिर ने आशीर्वाद दिया और पूछा, "कहां जाओगे भैया ?"

एकनाथ ने अपने गांव की ओर पीठ मोड़ ली और अपने सम्मुख फैले हुए विस्तृत जंगल की तरफ उंगली उठाकर उत्तर दिया, "बड़ी दूर !"

मुसाफिर—मगर फिर भी कहां ?

एकनाथ—श्री गुरुजी के चरणों में।

मुसाफिर घोड़े से उतर आया और एकनाथ के कंधे पर स्नेह से अपना हाथ रखकर बोला, "तुम्हारा गुरु कौन है ?"

एकनाथ—पंडित जनार्दन पन्त।

यह कहकर एकनाथ ने दोनों हाथ बांधकर नम्रता से सिर झुका लिया, जैसे वह इस समय भी गुरु के सामने खड़ा था। मुसाफिर को नवयुवक की श्रद्धा पर आश्चर्य हुआ, "कौन जनार्दन पंत ? क्या वही तो नहीं, जो देवगढ़ के दीवान हैं !"

एकनाथ—जी हां, वही महात्मा जिनके सदृश दूसरा आत्म-संयमी आज सारे भारतवर्ष में नहीं है। क्या आपने उनके दर्शन किए हैं ?"

यह कहकर उसने मुसाफिर की ओर बड़ी उत्सुकता से देखा।

मुसाफिर—हां, कई बार दर्शन किए हैं, परन्तु वे तो किसीको गुरु-मंत्र नहीं देते, न मैंने उनके यहां कोई शिष्य देखा है। मुझे आश्चर्य है कि उन्होंने

तुम्हें कैसे चेला बना लिया !

एकनाथ—(उदास होकर) उन्होंने मुझे चेला नहीं बनाया।

मुसाफिर—अरे !

एकनाथ—मगर मैंने उनको गुरु बना लिया। अब जाकर श्रीचरणों में लेट जाता हूं। देखूंगा कैसे कृपा नहीं करते !

मुसाफिर—तुम्हारी आयु थोड़ी है अभी।

एकनाथ—समझदार के लिए थोड़ी भी बहुत है।

मुसाफिर—क्या तुम्हें संसार का अनुभव है ?

एकनाथ—गुरुजी की कृपादृष्टि से अनुभव भी हो जाएगा।

मुसाफिर—यह मार्ग बड़ा विकट है।

एकनाथ—साहस हो, तो सारे काम बन जाते हैं।

मुसाफिर ने हंसकर कहा, "मगर बेटा ! देवगढ़ तक कैसे पहुंचोगे ? बड़ी दूर है यहां से।"

एकनाथ—जिनके दिल को लगी हो, उनके लिए दूरी कोई चीज़ नहीं है।

मुसाफिर—कोई घोड़ा क्यों नहीं ले लेते ?"

एकनाथ—गुरुजी के पास नंगे पांव ही जाना ठीक है।

मुसाफिर ने ये बातें सुनीं तो बड़ा खुश हुआ। उसने दुनिया देखी थी, मगर ऐसा नवयुवक उसकी आंखों से आज तक न गुज़रा था। यह नवयुवक न था, श्रद्धा और पुरुषार्थ की जीती-जागती मूर्ति था। उसने एकनाथ को प्रेम से देखा और घोड़े पर सवार होकर चल दिया।

२

कितने कष्ट सहकर, कितने संकट झेलकर एकनाथ देवगढ़ पहुंचा, इसका अनुमान करना आसान नहीं। परन्तु देवगढ़ पहुंचकर उसको वे सारे कष्ट भूल गए। प्यासा हरिण जल की खोज में कितना भागता है,

कैसा घबराता है, उसका शरीर थककर पसीना-पसीना हो जाता है, परन्तु जल के समीप पहुंचकर उसकी सारी थकान जाती रहती है, वहां जाकर उसका कुम्हलाया हुआ हृदय-कमल देखते-देखते खिल उठता है। एकनाथ की भी यही दशा थी। वह अब गुरु की नगरी में आ पहुंचा था। वह स्वर्गीय स्वप्नों की पुण्यभूमि में आ गया था, जिसके लिए उसकी आंखें तरसती थीं।

तीसरे पहर का समय था, एकनाथ पण्डित जनार्दन पन्त की सेवा में उपस्थित हुआ। उस समय पण्डितजी सरकारी कागज़ देखने में तन्मय हो रहे थे। एकनाथ चुपचाप एक कोने में खड़ा हो गया और भक्ति-भाव से उनकी ओर देखने लगा। यही वह व्यक्ति है, जो संसार और संसार के व्यवहार में रहते हुए भी संसार से बाहर है, जो गृहस्थी होते हुए भी अपने युग का सबसे बड़ा भक्त है, जो देवगढ़ का दीवान भी है, सूरमा सिपाही भी है, सेनापति भी है और पण्डित भी है। यही वह राजभक्त है, जिसका हिन्दू-मुसलमान दोनों सम्मान करते हैं, जिनके सामने सिर उठाने की बादशाह को भी मजाल नहीं। एकनाथ गद्‌गद हो गया। उसकी आंखों में पानी भर आया। सहसा पण्डितजी ने सिर उठाया और एकनाथ की तरफ देखा। एकनाथ के शरीर में बिजली की लहर-सी दौड़ गई। ये तो वही मुसाफिर थे, जो उसे अपने गांव के पास मिले थे, हंस-हंसकर बातें कर रहे थे, जिनकी आंखों में मन को मोहनेवाली शक्ति भरी थी। एकनाथ दौड़कर आगे बढ़ा और पण्डितजी के चरणों में लिपट गया। इस समय उसके आंसू पंडितजी के पांव पर गिर रहे थे। मगर ये आंसू साधारण आंसू न थे। एकनाथ का प्रेम था, जो अपने गुरु के श्रीचरणों पर निछावर हो रहा था। यह उसकी श्रद्धा थी, जो अपने देवता को रिझाने के लिए हृदय-गृह से चली थी।

पंडितजी ने उसे पांव पर से उठाया और उद्दण्ड से उद्दण्ड पुरुष को भी बस में कर लेने वाले ढंग में मुस्कराकर कहा, "आखिर तुम

यहां आ गए ? मगर बहुत कष्ट हुआ होगा ?"

एकनाथ ने उनके पांव की तरफ देखते हुए उत्तर दिया, "श्रीचरणों के दर्शन करके सारा कष्ट भूल गया।"

पंडितजी—तो अब क्या इच्छा है ?

एकनाथ—भगवान सब कुछ जानते हैं, अपने मुंह से क्या कहूं ?

पंडितजी—गुरु-मन्त्र चाहते हो क्या ?

एकनाथ—यह मेरे जीवन का सबसे बड़ा स्वप्न है।

पंडितजी—मैं साधारण गृहस्थी हूं, मुझसे तुम्हारा कल्याण क्या होगा ? किसी परमहंस के पांव क्यों नहीं पकड़ते ? बेड़ा पार हो जाए।

एकनाथ—मैंने इस युग का सबसे बड़ा परमहंस पा लिया, अब और कहां जाऊं ? आप गृहस्थी हैं, परन्तु आपकी पदवी साधु-संन्यासियों से भी ऊंची है।

पंडितजी—यह तुम्हारी श्रद्धा है। मैं तो राजा का एक मामूली नौकर हूं।

एकनाथ—मगर मेरे लिए राजाओं के भी राजा हैं।

यह कहकर एकनाथ फिर झुका और पंडितजी के पांव में लेट गया। पंडितजी निरुत्तर हो गए। विनय और श्रद्धा के सामने तर्क की पेश नहीं जाती। देवगढ़ के दीवान साहब एक साधारण ग्रामीण नवयुवक के सामने चुप थे और न जानते थे कि उसे कैसे समझाएं। कुछ सोचकर उन्होंने उसे उठाया और गम्भीरता से कहा, "हमें गुरु-मन्त्र देने में आपत्ति नहीं, परन्तु पहले तुम्हें सिद्ध करना होगा कि तुम इसके अधिकारी हो। परीक्षा के लिए तैयार हो ?"

एकनाथ ने सिर झुकाकर उत्तर दिया, "जी हां ! बड़ी खुशी से।"

यह कहकर उसने गुरु के पांव तले से मिट्टी उठाई और माथे पर मल ली, मानो यह मिट्टी न थी, चन्दन का बुरादा था।

३

तीन वर्ष बीत गए। एकनाथ ने गुरुजी की सेवा में दिन-रात एक कर दिया। ऐसी लगन से किसी बिके हुए दास ने भी अपने स्वामी की सेवा न की होगी। वह उनके कपड़े धोता था उनके लिए धान कूटता था, पानी भरता था, बाल-बच्चों को खिलाता था; और इतना ही नहीं, उनके दफ्तर का सारा काम अपने हाथ से करता था। दीवान साहब अब हिसाब आदि बहुत कम देखते थे, सारा स्याह-सफेद एकनाथ के हाथ में था। रियासत के लोग इसकी ईश्वरदत्त योग्यता और कार्यपटुता देखकर वाह-वाह करते थे, यहां तक कि राजा भी उसकी प्रशंसा करता था। मगर एकनाथ को इसपर तनिक भी अभिमान न था। वह समझता था, गुरुजी परीक्षा ले रहे हैं। पास हो गया, तो जन्म-मरण के फन्दे से मुक्त हो जाऊंगा।

प्रातःकाल था, पंडितजी अपने मन्दिर में बैठे ईश्वर का भजन कर रहे थे और एकनाथ बाहर खड़ा था कि कोई विघ्न न डाल दे। इतने में घोड़ों के टापों का शब्द सुनाई दिया। एकनाथ डर गया। उसे भय हुआ कि कहीं इससे गुरुजी की समाधि न खुल जाए। उनका ध्यान टूट गया तो क्या जवाब दूंगा? वह जल्दी से बाहर निकला कि सवार को रोक दे। पर यह सवार कोई साधारण सवार न था। वह शाही सवार था, जो राजा का खास परवाना लेकर आया था। एकनाथ ने आगे बढ़कर कहा, "गुरुजी ईश्वर का भजन कर रहे हैं। नीचे उतर आओ।"

सवार घोड़े से नीचे उतर आया और जेब से एक मुहरवाला लिफाफा निकालकर बोला, "यह शाही परवाना है। अभी दीवान साहब के पास पहुंचा दो।"

एकनाथ ने लिफाफा ले लिया और उत्तर दिया, "वे तो समाधि में हैं।

सवार—कोई बात नहीं। जाकर समाधि से उठा दो।

एकनाथ—यह असम्भव है। (थोड़ी देर बाद) क्या बहुत ज़रूरी काम है ?

सवार—अब मैं तुमसे क्या कहूं ? ज़रूरी है या नहीं। राजा साहब का हुक्म है। इसी समय पहुंचाओ। मैं पागल न था जो तुमपर ज़ोर देता।

एकनाथ ने लिफाफे को उलट-पलटकर देखा और कहा, "मगर ऐसी कौन-सी बात है, जो ज़रा भी प्रतीक्षा नहीं कर सकते ?"

सवार—भैया ! मेरा कर्तव्य आज्ञा-पालन करना है। तुम जाकर सूचना देते हो या मैं खुद जाऊं ? हर हालत में यह परवाना अभी उनके पास पहुंच जाना चाहिए। ज़रा-सी देर भी रियासत को बर्बाद कर देगी।

एकनाथ—मगर इस समय तो उनके पास कोई भी नहीं जा सकता, यहां तक कि स्वयं राजा साहब आ जाएं, तो उनको भी आगे न बढ़ने दूं। ईश्वर के ध्यान में हैं।

सवार ने कुछ सोचकर धीरे से कहा, "तो तुम्हें साफ ही कहना पड़ेगा। शहर पर किसी दुश्मन ने हमला किया है। राजा साहब यह परवाना भेजकर अपने कर्तव्य से निवृत्त हो गए। शहर बचे या बर्बाद हो, उनकी बला से और किसीको इसकी फिक्र ही नहीं। ले-देकर एक दीवान साहब हैं, जिनको शहर की हिफाज़त का ख्याल है, और जिनके इशारे पर सिपाही मर मिटने को तैयार हैं। अब यह तुम खुद ही सोच लो कि उनको इस वक्त सूचना देना मुनासिब है या नहीं। मगर मैं इतना कहे देता हूं कि उनको सूचना न हुई, तो दुश्मन किले की ईंट से ईंट बजा देगा।"

यह कहकर सवार चला गया, मगर उसके शब्द एकनाथ के कानों में उसी तरह से गूंज रहे थे। उसने परवाना गुरुजी के कागज़ों पर रख दिया और घुटनों पर सिर रखकर सोचने लगा कि क्या करना चाहिए। उठाऊं या न उठाऊं। ध्यान में हैं। जो राजाओं का भी राजा है, उसके

दरबार में हैं। कहीं अप्रसन्न न हो जाएं, क्रोध में न आ जाएं। सब किए-कराए पर पानी फिर जाएगा। एक दिन कहते थे, भगवान अपने भक्तों का काम स्वयं कर देते हैं। कहेंगे यह बात तुझे कैसे भूल गई? लज्जित हो जाऊंगा, उत्तर न दे सकूंगा, उनके सामने सिर उठाने के योग्य न रहूंगा। तो ठीक है, मुझे चुप रहना चाहिए। देखूं, परमात्मा क्या करता है!

एकनाथ निश्चित हो गया और इधर-उधर टहलने लगा। मगर चिन्ता शहद की मक्खी के समान है। इसे जितना हटाओ उतना ही और चिमटती है। एकनाथ को फिर इसी चिन्ता ने आ घेरा। कहीं वैरी निकट न आ पहुंचा हो, राजा ने जब ही ज़रूरी परवाना भेजा है। ऐसा न हो, मैं यहां मन्दिर के द्वार पर बैठा रहूं और गढ़ पर दुश्मन का अधिकार हो जाए। उस समय गुरुजी के मन की क्या अवस्था होगी? बहुत नाराज़ होंगे। कहेंगे, तुझे इतना भी विवेक नहीं कि समय-कुसमय ही पहचान सके। हम समाधि में बैठे रहे, उधर शहर की सफाई हो गई। इसका उत्तर-दाता केवल तू है, जिसने ऐसी मूर्खता की। एकनाथ असजमंस में पड़ गया। कभी सोचता, उठा देना चाहिए, इस समय यही धर्म है। कभी सोचता, नहीं उठाना चाहिए, समाधि में हैं। यही दोनों तरफ देखता था, परन्तु उसे दोनों तरफ अन्धकार दिखाई देता था। प्रकाश कहीं भी न था। वह घबराहट की दशा में इधर-उधर फिर रहा था। ऐसी दशा इसकी आज तक कभी न हुई थी। अपने चारों तरफ काले नागों को फुंकारें मारते देखकर भी उसका विवेक नष्ट न होता। मगर इस समय·····

वह बहुत व्याकुल था। उसके मस्तिष्क से पसीने की बूंदें टपक रही थीं। उसके मुंह का रंग एक-एक क्षण में बदलता था, जैसे वह उसके जीवन-मरण का प्रश्न हो। इस समय उसे कौन बचा सकता है? इस निराशा के भार से उसे कौन निकाल सकता है? सिवाय गुरुजी के और कोई नहीं। और गुरुजी·····उसने उनकी ओर देखा। वे अभी

तक आंखें बन्द किए ध्यान में बैठे थे। एकनाथ भूमि पर गिर पड़ा और फूट-फूटकर रोया, मगर इससे क्या होता था ? समय बहुत तेज़ी से बढ़ा चला जाता था।

इतने में दुर्ग के बाहर दुश्मन की तोपें गर्जने लगीं। एकनाथ का पीला मुंह और भी पीला हो गया। अब सोचने का अवसर न था, काम करने का समय था। एक क्षण में इधर या उधर। एकनाथ ने अपने धड़कते हुए दिल पर हाथ रखा, अपनी तर्कशक्ति को एकत्रित किया, एक मिनट के लिए सिर झुकाया और निश्चय कर लिया।

थोड़ी देर के बाद वह गुरुजी की जंगी पोशाक पहने उनके जंगी घोड़े पर सवार था और देवगढ़ की वीर सेना उसके पीछे 'हर हर महादेव' करती हुई दुर्ग से बाहर निकल रही थी। एकनाथ लड़ा और विजयी हुआ, और दुश्मन को भगाकर वापस आ गया। परन्तु उस समय यह किसीको भी पता न था कि यह एकनाथ है, पंतजी नहीं हैं। एकनाथ ने घोड़ा अश्वशाला में बांध दिया, कवच उतारकर दीवार के साथ लटका दिया और अपने वसन्ती रंग के वस्त्र पहनकर चुपचाप अपने स्थान पर बैठ गया, जैसे कुछ हुआ ही नहीं।

४

थोड़ी देर बाद गुरुजी की समाधि खुली और वे बाहर निकले। वहां हरएक के मुंह पर इसी घटना का बखान था। लोग कहते थे, आज दीवान साहब ने कमाल किया, उनकी तलवार ऐसी चलती थी जैसे कैंची कपड़े पर चलती है। दुश्मन कैसे घमंड से आया था, मानो देवगढ़ में सिपाही नहीं रहते, पशु-पक्षी रहते हैं। मगर दीवान साहब ने उसके दांत खट्टे कर दिए। दीवान साहब को आश्चर्य हो रहा था कि ये कहते क्या हैं ? कौन आया ? किसने आक्रमण किया ? किसने दांत खट्टे किए ? इनको किसी भी बात का ज्ञान न था। आश्चर्यचकित आगे बढ़े जाते थे कि एक स्थान पर कुछ आदमी बातें करते दिखाई दिए। दीवान साहब उनके पीछे खड़े हो गए और

सुनने लगे।

एक आदमी कह रहा था, "आज तो दीवान साहब की चुस्ती-चालाकी देखने योग्य थी।"

दूसरा—हम उनसे छोटे हैं, परन्तु हमें वह जोश नाम को नहीं। अद्‌भुत आदमी हैं!

तीसरा—आदमी! वाह भाई वाह!! उन्हें आदमी कौन कहता है! वे तो कोई ऋषि हैं। पापी प्राणियों में यह शक्ति कहां! जवानी, बुढ़ापा सब उनके वश में हैं। चाहे बूढ़े बन जाएं, चाहे जवान बन जाएं।

चौथा मुसलमान था, वह गम्भीरता से बोला, "ज़रूर, ज़रूर, बड़े बहादुर हैं। आज तो बिलकुल नौजवान मालूम होते थे, वह बुढ़ापा कहीं नज़र न आता था।"

तीसरा—और भैया! हम तो देख रहे थे। दुश्मन उनको देखते ही किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते थे, जैसे किसीने मंत्र पढ़कर इनकी संज्ञा छीन ली हो।

चौथा—आंखों से आग बरसती थी। सिद्धपुरुष महात्माओं के यही लक्षण हैं। जिसकी तरफ देख लें वही वश में हो जाता है। कुछ करना चाहे तब भी नहीं कर सकता।

दूसरा—और उनका घोड़ा कैसा उड़ता चला जाता था, यह शायद आपने नहीं देखा।

तीसरा—खूब देखा, दो ही घण्टे में दुश्मन मैदान छोड़ भागा। किस घमण्ड से आया था, मानो विजय निश्चित है।

चौथा—अब कभी इस तरफ देखने का भी साहस न करेगा।

पहला—समझता होगा, बादशाह विलासप्रिय है, जाते ही विजय हो जाएगी, यह पता न था कि पंतजी का सामना है। कैसा भागा!

दूसरा—अच्छी शिक्षा मिली। आजीवन स्मरण रखेगा।

पांचवां—परन्तु एक और बात भी सुनी है, सुनकर बुद्धि चकराती है। बड़ी अद्‌भुत बात है।

पहला—वह क्या ?

पांचवां—कुछ लोगों का कहना है, जब वे दुश्मन से लड़ रहे थे, उसी समय वे अपने मन्दिर में भी बैठे थे।

दूसरा—हां, हां ! सुना तो हमने भी है।

तीसरा—परन्तु एक ही समय में दो स्थानों पर ! यहां भी, वहां भी ! अचरज होता है।

चौथा—भाई, जिसकी पीठ पर परमेश्वर का हाथ हो, उसके लिए कुछ भी कठिन नहीं। भगवान जो चाहे कर दे, उसका हाथ कौन पकड़ सकता है ! वह चाहे तो तुम अभी आकाश में भी उड़ने लगो, हम मुंह देखते ही रह जाएं। प्रभु की लीला है।

पांचवां—और क्या।

पहला—ये दीवान साहब नहीं हैं, नगर-रक्षक देवता हैं।

सहसा एक आदमी ने पीछे मुड़कर देखा और दूसरे को दिखाया। सब दंग रह गए। यह क्या ? दीवान साहब चले जा रहे हैं। एक बोला, "लो यह भी देख लो। हममें से किसीका रूप धारण करके यहां खड़े थे, अब अपने रूप में जा रहे हैं। हमने तो पहले ही कह दिया था कि ये महात्मा जो चाहें सो कर सकते हैं।"

अब दीवान साहब सब कुछ समझ गए। यह काम एकनाथ ही का है, किसी दूसरे का नहीं। उसीने हमारे वस्त्र पहने और दुश्मन को हराकर लौट आया। यह बालक कितना वीर है ! कितना समझदार !! राजा का परवाना आया होगा, हम समाधि में थे, हमें नहीं उठाया, स्वयं लड़ने चला गया। कोई मूर्ख होता तो कहता, शहर लुटता है तो लुटे, हमें क्या ? बैठे गुरु की आज्ञा का पालन कर रहे हैं। उन्होंने मन्दिर में पहुंचते ही एकनाथ को गले से लगा लिया और कहा, "तूने मेरी लाज रख ली।"

एकनाथ बार-बार उनके चरणों पर गिरता था, कहता था, "आप मुझे लज्जित करते हैं। मैंने तो कुछ भी नहीं किया।"

पण्डितजी ने उसे स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखा और कहा, "तुम्हारी वीरता की लोग भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं, मुझे यह पता न था कि तुम तलवार के भी धनी हो।"

एकनाथ—यह सब आपकी कृपा है, वरना मेरी भुजाओं में ऐसा बल कभी न था।

पण्डितजी—लोगों को सन्देह भी न हुआ कि यह तुम हो, मैं नहीं हूं।

एकनाथ—और वास्तव में वह आप ही का प्रताप है, नहीं मैं किस योग्य था! मुझे केवल इतना स्मरण है कि मैंने आपके वस्त्र पहने और घोड़े पर सवार हुआ। इसके बाद क्या हुआ, इसका मुझे जरा भी ज्ञान नहीं। मुझे ऐसा मालूम होता था जैसे कोई दैवी शक्ति मुझे उड़ाए लिए जाती है, जैसे मैं अपने आपे में न था। अवश्यमेव आप ही की सत्ता मेरे शरीर में आ गई थी, अन्यथा यह विजय असम्भव थी। शरीर मेरा था, चेतना आपकी थी।

पण्डितजी—लोग अब तक यही समझते हैं कि यह मैं ही था।

एकनाथ—स्वयं मेरी भी यही धारणा है। आपने मुझे एकमात्र अपना साधन बनाया था।

इस श्रद्धा को देखकर पण्डितजी की आंखें सजल हो गईं। थोड़ी देर बाद बोले, "वत्स! अब मैं बूढ़ा हो गया। इस पन में यह राज्य-कार्य करना बड़ा कठिन है। मैं चाहता हूं, अब चार दिन विश्राम करूं। दीवान की पदवी तुम संभालो तो मुझे छुट्टी मिले। आज की घटना ने मेरी आंखें खोल दी हैं। मुझे विश्वास हो गया है कि यह काम तुम खूब संभालोगे। राजा साहब को भी आपत्ति न होगी। मेरा जाकर दो शब्द कह देना ही काफी है, वे स्वीकार कर लेंगे। कहो तो अभी जाऊं।"

एकनाथ की आंखों में आंसू आ गए। उसने दोनों हाथ बांध लिए, जैसे कोई भूल हो गई हो। वह भूमि पर मुंह के बल गिर पड़ा और नम्रता से बोला, "मुझे कुछ नहीं चाहिए। केवल आपके चरणों में पड़ा रहूं, मेरे लिए यही सब कुछ है।"

पण्डितजी एकनाथ का अभीष्ट समझ गए, परन्तु चुप रहे। अभी एक परीक्षा बाकी थी।

५

और कुछ ही दिनों बाद उसका समय भी आ गया।

प्रातःकाल था, एकनाथ पण्डितजी के स्नान के लिए पानी भर रहा था। इतने में पण्डितजी खड़ाऊं पहने हुए आए और मुस्कराकर बोले, "बेटा एकनाथ ! कल नव-वर्षारम्भ है। इस वर्ष का हिसाब-किताब तैयार कर लो। समय थोड़ा है, केवल आज का दिन और आज की रात। परन्तु तुम्हारे जैसे योग्य आदमी के लिए यह कठिन नहीं।"

एकनाथ ने पानी का घड़ा हाथ से रख दिया।

पण्डितजी—राजा साहिब कल हिसाब देखेंगे। तैयार हो जाएगा या नहीं ? यदि न हो सके, तो मैं कर लूं।

एकनाथ—(धीरे से) मैं कर लूंगा।

पण्डितजी—तो जाओ, आरम्भ कर दो। समय बहुत कम है।

एकनाथ दफ्तर में पहुंचा और हिसाब-किताब देखने लगा। काम साधारण न था, सारे वर्ष का हिसाब था। और वह भी किसी साहूकार का नहीं, एक रियासत का। परन्तु एकनाथ के दिल में ज़रा भी घबराहट न थी, न मुंह पर चिन्ता के चिह्न थे। उसने किताबों का ढेर सामने रख लिया और पालथी मारकर बैठ गया। सूरज आकाश में धीरे-धीरे ऊंचा उठा और सिर पर पहुंच गया, मगर एकनाथ उसी तरह बैठा हिसाब देखता रहा। सन्ध्या हो गई, पर एकनाथ को पता भी न था। नौकर आकर शमादान जला गया, एकनाथ काम में लगा रहा। उसे खाने-पीने की सुध न थी, न सोने की इच्छा थी। ख्याल यह था, किसी प्रकार काम समाप्त हो जाए।

आधी रात बीत गई, एकनाथ ने सारा काम समाप्त कर लिया। सब कुछ ठीक था, केवल एक पैसे का फर्क था। एकनाथ के तेवर बदल गए।

सोचने लगा, ज़रा-सी भूल ने सारा काम चौपट कर दिया। उसने रकमों को दूसरी बार जमा किया। फिर वही फर्क। फिर हिसाब किया, पर फर्क फिर भी न निकला। एक पैसे का अन्तर ज्यों का त्यों था। एकनाथ घबरा गया। रात आधी से भी अधिक जा चुकी थी। चारों ओर सन्नाटा था। लोग अपने-अपने घरों में सुख-चैन की नींद सो रहे थे, मगर एकनाथ शमादान के सामने बैठा था और सोचता था कि पैसे का फर्क कहां है।

पिछले पहर पण्डित जनार्दन की आंख खुली। खिड़की से देखा, दफ्तर में अभी तक प्रकाश है। समझ गए, एकनाथ जाग रहा है। वे धीरे से उठे और बाहर चले आए। दफ्तर के बाहर चौकीदार भी ऊंघ रहा था, केवल एकनाथ जागता था। पण्डितजी ने धीरे से कहा, "एकनाथ!"

मगर एकनाथ ने कोई उत्तर न दिया, अपना हिसाब करता रहा। पण्डितजी ने फिर पुकारकर कहा, "एकनाथ!"

एकनाथ ने कुछ नहीं सुना।

पण्डितजी और आगे बढ़े, और ज़रा ऊंची आवाज से बोले, "एकनाथ!"

मगर फिर जवाब में वही सन्नाटा था, जैसे एकनाथ जागता न था, सोता था।

पण्डितजी को अचरज हुआ। वे और आगे बढ़े और शमादान के सामने इस प्रकार खड़े हो गए कि उनके शरीर की छाया पुस्तक पर पड़ती थी। मगर एकनाथ को अब भी मालूम न हुआ। उसके लिए पुस्तक के अक्षर उसी तरह साफ और रोशन थे। वह हिसाब में तन्मय हो रहा था। उसे दीन-दुनिया की सुध न थी। इसी तरह आध घण्टा बीत गया।

सहसा एकनाथ को अपनी भूल का पता लग गया। उसने खुशी से सिर हिलाया और हिसाब ठीक करके पुस्तकें बन्द कर दीं। इसके बाद उसने

दोनों हाथ मिलाकर सिर से ऊपर उठाए और जंभाई लेने लगा। इतने में उसने चकित होकर देखा, पण्डितजी सामने खड़े हैं। वह घबराकर आगे बढ़ा और उनके पांव में झुक गया।

पण्डितजी ने पूछा, "हिसाब-किताब हो गया ?"

एकनाथ—जी हां, हो गया। आप कैसे आए ?

पण्डितजी—हम यहां बड़ी देर से खड़े हैं।

एकनाथ चौंक पड़ा।

पण्डितजी—हमने तुम्हें कई बार बुलाया, मगर क्या जाने तुम कहां थे ?

एकनाथ—मैंने एक भी आवाज़ नहीं सुनी।

पण्डितजी—हमारी छाया से पुस्तक पर अंधेरा हो गया, तुम्हें इसका ज्ञान न हुआ ?

एकनाथ—(हाथ बांधकर) अब क्या कहूं, मुझे सन्देह तक न हुआ कि कोई इस कमरे में खड़ा है। उस समय मेरी दुनिया केवल यह पुस्तक थी।

पण्डितजी खड़े थे, बैठ गए और एकनाथ के मुंह की ओर देखकर बोले, "प्रातःकाल से इसी भांति बैठे थे क्या ?"

एकनाथ—जी हां, इसी भांति।

पण्डितजी—कुछ खाया-पीया भी नहीं ?

एकनाथ—जी नहीं।

पण्डितजी—नींद भी नहीं आई ?

एकनाथ—ज़रा भी नहीं !

पण्डितजी—इस समय क्या कर रहे थे ?

एकनाथ—एक पैसे का फर्क पड़ता था, उसे निकाल रहा था। बड़ी कठिनाई से पता चला।

पण्डितजी—एक पैसे के लिए इतना परिश्रम क्यों किया ? मामूली बात थी।

एकनाथ—मैंने सोचा, आखिर भूल है—चाहे एक पैसे की हो, चाहे

एक लाख की।

पण्डितजी का चेहरा चमकने लगा। वे गम्भीरता से बोले, "वत्स ! तूने मुझे प्रसन्न कर दिया। मेरी परीक्षा बड़ी कठिन थी। बड़े-बड़े साधु-सन्त भी कदाचित् इसमें सफलकाम न होते, परन्तु तू सबमें उत्तीर्ण हो गया। तूने काले कोसों की यात्रा की और सिद्ध कर दिया कि तेरा हृदय श्रद्धा का सागर है। तूने सिद्ध किया कि तुझमें सेवा-भाव है। तूने युद्ध-क्षेत्र में विजय प्राप्त की, जो इस बात का प्रमाण है कि तू वीरात्मा है, और तुझे मृत्यु का भय नहीं। और फिर दीवान की पदवी को ठुकरा दिया। कोई लोभी ऐसे अवसर पर फूला न समाता। वह त्याग-भाव कितना पवित्र, कितना महान है ! परन्तु मैंने तुझे उस समय भी गुरु-मन्त्र न दिया, क्योंकि अभी एक परीक्षा बाकी थी। आज वह भी समाप्त हो गई। मैं देखना चाहता था कि तुझमें एकाग्रता है या नहीं, जिसके बिना ईश्वर-भक्ति के मार्ग पर दो पग भी चलना असम्भव है। मैं आया, मैंने तुझे आवाजें दीं, मैंने तेरा प्रकाश रोक लिया, परन्तु तुझे मालूम भी न हुआ। यह एकाग्रता की पराकाष्ठा है। अब मैं तुझे गुरु-मन्त्र देने को तैयार हूं। मुझे तेरे जैसे शिष्य पर गर्व है।"

इस समय एकनाथ के चेहरे पर ऐसा तेज था, जो इस मर्त्यलोक में कभी-कभी दिखाई देता है। आज उसका वर्षों का परिश्रम सफल हुआ है, आज वह परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ है। उसने वहीं भूमि पर गिरकर घुटने टेक दिए।

पण्डितजी ने फिर कहा, "और मुझे यह भी आशा है कि जिस प्रकार तूने आज एक पैसे की भूल के लिए अपना इतना समय खर्च किया है, उसी प्रकार भक्ति-मार्ग पर चलते हुए भी तू इस नियम को स्मरण रखेगा और छोटी से छोटी बुराई की भी अवहेलना न करेगा। अब जा, आराम कर। कल मैं तुझे प्रकाश, पवित्रता और अमर जीवन के सन्मार्ग पर चलने का उपदेश दूंगा।"

एकनाथ का चेहरा और भी चमकने लगा।

दिल्ली का अन्तिम दीपक

जिन्होंने सन् १८८० में दिल्ली का चांदनीचौक देखा है, उन्होंने सुभागी का भाड़ अवश्य देखा होगा। आज वह भाड़ दिखाई नहीं देता, न सायंकाल उसका धुआं आकाश की ओर जाता नज़र आता है। वह पूरबी स्त्रियों का समूह, वह गरीबों का जमाव, वह बच्चों का कोलाहल, जिसपर रसीले गीतों की मोहिनी निछावर की जा सकती है, यह सब अतीतकाल की भूली हुई कहानी हो गई है। उसके स्थान पर अब एक शानदार दुकान खड़ी है, जहां अमीरों की गाड़ियां आकर रुकती हैं। कभी वहां सुभागी का भाड़ जलता था और गरीब लोग आकर अनाज भुनाते थे। सुभागी कुरूपा स्त्री थी, आयु भी चालीस वर्ष से कम न होगी। उसकी आवाज़ डरावनी थी। रात को एकान्त स्थान में दिखाई पड़ जाने से चुड़ैल का सन्देह होना स्वाभाविक था। मगर इसपर भी वह चांदनीचौक में ऐसे आनन्द और सन्तोष का जीवन बिता रही थी जो राजमहलों में रानियों को भी प्राप्त न होगा। वह गरीब थी, उसके पास रुपया-पैसा न था, न बहुमूल्य वस्त्र थे। भाड़ झोंकने से केवल उतनी ही प्राप्ति होती थी, जितनी से शरीर और आत्मा का सम्बन्ध स्थिर रह सकता था। परन्तु उसके पास एक वस्तु ऐसी थी जो न राज-महलों में थी, न कुबेर के कोष में। उसके पास हृदय का सन्तोष और शान्ति की नींद थी, जिसे न चोर चुरा सकता था, न राजा छीन सकता

था। वह उन्नीसवीं सदी में रहते हुए चौदहवीं सदी का जीवन व्यतीत कर रही थी। जैसे किसीके चारों तरफ आग काले नाग के समान अपना भयानक मुंह खोले लपक रही हो, मगर वह हरे वृक्षों से ढकी हुई नदी के किनारे बैठा उसकी लहरों से खेल रहा हो और उसे इस बात की कोई चिन्ता, कोई शंका न हो कि मेरे चारों तरफ आग भभक रही है। वह समझता है, यहां पानी है, इसपर आग का असर न होगा। इधर आएगी तो आप ही बुझेगी, मेरा क्या बिगाड़ लेगी ! यही दशा सुभागी की थी। उसने अपने जीवन के चालीस वर्ष इसी झोंपड़े में काटे थे। इसे देखकर उसका हृदय-मयूर नाचने लग जाता था। दिल्ली बदल गई, चांदनीचौक बदल गया, मकान बदल गए। यहां तक कि दिल्ली की प्राचीन सभ्यता भी बदल गई, परन्तु सुभागी और उसके पास के भाड़ में कोई परिवर्तन न हुआ। यदि प्रकृति के नियम बदल जाते और धरती की कच्ची मिट्टी को निगले हुए मुर्दे उगलने की आज्ञा मिल जाती तो वे पहचान न सकते कि यह वही दिल्ली है। परन्तु सुभागी के भाड़ को देखकर वे अपनी समस्त शक्तियों से चिल्ला उठते कि यह वही दिल्ली है। सच पूछो तो यह सुभागी का भाड़ नहीं था, नवीन दिल्ली के शरीर में प्राचीन दिल्ली की आत्मा विराजमान थी। यह झोंपड़ा नहीं था, दिल्ली के अंधेरे प्रकाश में पुराने भारतवर्ष का दीपक जल रहा था। आज वह सादगी की जान, सन्तोष का नमूना, पुराने समय की अन्तिम यादगार कहां है ? वे आत्मसम्मान के भाव किधर चले गए ? किस देश को ? दिल्ली के बाज़ार इसका उत्तर नहीं देते। पहले मन्दिर गया था, अब दीपक भी नहीं दिखाई देता।

सुभागी का झोंपड़ा गगनभेदी अट्टालिकाओं के बीच इस तरह खड़ा था, जैसे अहंकार और अभिमान के बीच सच्चा आनन्द खड़ा मुस्करा रहा हो। सुभागी को किसीसे डाह न थी, न ऊंचे मकान देख उसका जी जलता। उसके लिए वह झोंपड़ा और वह भाड़ ही सब कुछ था। तीस वर्ष गुज़रे, जब उसका भड़भूंजा उसे ब्याह

कर लाया था। तब से वह यहीं थी। मरते समय उसके पति ने कहा था, 'मैं तुझे लेने आऊंगा।' बात साधारण थी, परन्तु सुभागी के दिल में बैठ गई। आजकल की स्त्रियां शायद इस बात को निष्फल और निर्मूल कहकर भुला देतीं, मगर सुभागी पुराने समय की नीच (?) स्त्री थी। वह अपने प्रीतम की आज्ञा को कैसे भूल जाती! यह उसके पति का वचन था। सोचती थी, कौन जाने, किस समय आ जाए। उसकी आत्मा इस झोंपड़े को, इस भाड़ को ढूंढ़ेगी, मेरा नाम ले-लेकर बुलाएगी। पुराने ज़माने का भड़भूंजा नई दिल्ली में घबरा जाएगा। समझेगा, 'सुभागी ने प्रीति की रीति नहीं निबाही, प्रेम का दीया वायु के झोंकों ने बुझा दिया।' और यह वह विचार, वह भाव था, जिसके लिए सुभागी ने स्त्री होकर संसार के दुःखों का मर्दों के समान सामना किया। शरीर भद्दा था, परन्तु दिल कैसा सुन्दर, कैसा मनोहर था! लोहे की खान में सोने का डला छिपा था।

२

इसी प्रकार कई वर्ष बीत गए, और बदल जानेवाली दुनिया में न बदलनेवाली सुभागी उसी तरह अपने परदेसी पिया का रास्ता देखती रही। मगर उसे उसकी सुध न आई। यहां तक की चांदनीचौक के अमीर व्यापारियों की लोभी आंखें सुभागी के भाड़ की तरफ उठने लगीं। ऐसी चाह से कोई रसिया अपनी हृदयेश्वरी की तरफ भी न देखता होगा। सोचते थे, कैसा अच्छा मौका है! यहां दुकान बने तो बाज़ार की शोभा बढ़ जाए। कई व्यापारियों ने यत्न किया, थैलियां लेकर सुभागी के पास पहुंचे, मगर सुभागी ने बेपरवाही से उनकी तरफ देखा और कहा, "यह ज़मीन न बेचूंगी। यहां मेरा स्वामी बिठा गया है। मुझे लेने आएगा तो कहां ढूंढ़ेगा। यह झोंपड़ा नहीं, तीर्थराज है। इसे बेच दूं तो मेरा भला किस जुग में होगा?"

एक व्यापारी ने कहा, "सुभागी! अब वह कभी न लौटेगा। तू

यह आशा छोड़ दे।"

सुभागी ने उत्तर दिया, "परन्तु उसका वचन कैसे झूठा हो जाएगा ! उसके शब्द आज तक मेरे कानों में गूंज रहे हैं।"

एक और दूरदर्शी ने कहा, "इस बुढ़ापे में इतना परिश्रम क्यों करती है ? झोंपड़ी बेच दे और भगवान का भजन कर।"

सुभागी बोली, 'झोंपड़ा गया तो भजन की सुध भी जाती रहेगी। जिसने पिया को भुला दिया, वह भगवान को खाक याद करेगी।"

एक मुंहफट ने कहा, "तू सठिया गई है। रुपये ले और चैन की बंसी बजा। अब सारी आयु छाती फाड़कर काम करने का क्या तूने ठेका ले लिया है ?"

सुभागी ने उत्तर दिया, "यह तो जन्म का काम है, मरने पर ही छूटेगा। चार दिन के सुख के लिए अपना घर कैसे बेच दूं ?"

"मगर इसमें है क्या ?"

"मरनेवाले की समाधि है। समाधि को किसीने बेचा है ?"

"तू तो बावली हो गई है।"

"भगवान इसी तरह उठा ले, यही प्रार्थना है। तुम अपनी रकम अपने पास ही रहने दो। मेरे लिए यह झोंपड़ा ही सब कुछ है।"

"हम तुम्हें और मकान दे देंगे।"

"पराई वस्तु अपनी कैसे बन जाएगी ?"

"उसमें सब तरह का आराम रहेगा। यह झोंपड़ा तो किसी काम-काज का नहीं है।"

"अपना बच्चा बदसूरत हो तो भी प्यारा लगता है।"

इसी प्रकार प्रलोभनों ने बीसियों आक्रमण किए मगर सन्तोष के सामने सब व्यर्थ गए, जिस तरह पानी की लहरें चट्टान से टकराकर पीछे हट जाती हैं।

३

सुभागी के त्रिया-हठ ने सबका उत्साह भंग कर दिया। उन्होंने समझ लिया कि बुड्ढी भाड़ न बेचेगी। मगर सेठ जानकीदास ने हिम्मत न हारी। उनकी दो दुकानें थीं और यह भाड़ उन दोनों के बीच में था। आसपास फानूस जलते थे, मध्य में दीया टिमटिमाता था। यह दीया सुभागी के लिए जीवन-ज्योति से कम न था। उसे देखकर उसका हृदय ब्रह्मानन्द में लीन हो जाता था। मगर जानकीदास उसे देखते तो उनकी आंखों में लहू उतर आता था। सोचते, यह जगह मिल जाए तो दुकानों का कलंक मिट जाए। हज़ारों जवान मरते हैं, इस बुढ़िया को मौत भी नहीं आती। मगर बुढ़िया से मिलते तो बहुत सत्कार का भाव दिखाते। तलवार पर मखमल का गिलाफ चढ़ा हुआ था।

एक दिन की बात है, सुभागी वृक्षों के रूखे-सूखे पत्ते और टूटी-फूटी टहनियां चुनने गई। दोपहर का समय था, सूरज की किरणें चारों तरफ नाच रही थीं। सुभागी बेपरवाही से पत्ते और लकड़ियां बीन रही थी। एकाएक आकाश में काली घटा छा गई और ठण्डी-ठण्डी वायु चलने लगी। सुभागी ने एकत्र किए हुए पत्ते आदि कपड़े में बांधे और नगर की ओर चली। परन्तु तीन मील की दूरी साधारण दूरी न थी। इस-पर सुभागी की बूढ़ी टांगें! वर्षा ने बुढ़िया को घेर लिया। बादल बरसने लगे। मगर ये बादल न थे, सुभागी का दुर्भाग्य था। एक वृक्ष के नीचे खड़ी हो गई और सोचने लगी, सायंकाल को क्या करूंगी? ये पत्ते भी भीग गए तो भाड़ कैसे गर्म होगा। और भाड़ गर्म न हुआ तो खाऊंगी क्या? हाथ उठा-उठाकर प्रार्थना की कि तनिक वर्षा रुक जाए तो घर पहुंच जाऊं। परन्तु बादलों ने सुभागी की एक न सुनी। वे आकाश के वासी थे, पृथ्वी के बेटों की उन्हें क्या चिन्ता थी! जल-थल एक हो गया। उस दिन की वर्षा वर्षा न थी, भगवान का कोप था। आठ घण्टे वह वर्षा हुई कि चारों तरफ कोलाहल मच गया। यमुना में

बाढ़ आ गई। सहस्रों गरीबों के मकान गिर गए। गाय-बैल इस तरह बहे जाते थे, मानो घास-फूस के तिनके हैं। उनको बचानेवाला कोई न था। और यह पानी बाहर ही न था, दिल्ली के गली-कूंचों में भी फुंकारें मारता फिरता था। जिनके मकान पक्के थे वे बेपरवाह थे, जिनके कच्चे थे उनका धीरज छूटा जाता था। और पानी कहता था, आज बरसकर फिर न बरसूंगा।

सुभागी एक वृक्ष पर बैठी हुई इधर-उधर देखती थी, और निराशा की ठण्डी सांसें भरती थी। उसके आसपास पानी ही पानी था। दूर तक कोई मनुष्य दिखाई न देता था। उसके एकत्र किए हुए पत्ते किसी अभागे के स्वप्न के सदृश्य जल में विसर्जित होकर पता नहीं कहां चले गए थे। परन्तु सुभागी को उसकी चिन्ता न थी। उसके दिल में एक ही चिन्ता थी, एक ही इच्छा, किसी तरह अपने घर पहुंच जाऊं। पता नहीं भाड़ का क्या हाल होगा। पानी-तले डूब गया होगा। मिट्टी का ढेर रह गया होगा। यदि उसके बस में होता तो उसी समय वहां पहुंच जाती, पर पानी रास्ता रोके खड़ा था। सुभागी तड़पकर रह गई। उस समय उसने एक कबूतरी देखी, जो एक वृक्ष की डाल पर बैठी थी। सुभागी ने सोचा, अगर मैं कबूतरी होती तो उड़कर चली जाती, पानी मेरा क्या बिगाड़ लेता! इतने में कबूतरी ने पर खोले और उड़कर वह दृष्टि से ओझल हो गई। यह देखकर सुभागी ने सोचा, राम जाने यह कबूतरी कहां गई है; शायद मेरे झोंपड़े की ही तरफ गई हो। उसने चाहा कि मैं भी दौड़कर वहां चली जाऊं। परन्तु झुककर देखा तो आधा वृक्ष अभी तक पानी के अन्दर था और मार्ग दिखाई न देता था सुभागी की आखों ने आंसुओं की दो गर्म बूंदें गिरीं, और बर्षा के ठण्डे जल में विलीन हो गईं।

दूसरे दिन प्रातःकाल सुभागी वृक्ष से उतरी और शहर को चली। पानी बरसना बन्द हो चुका था, पर आसमान में बादल अभी बाकी थे। सुभागी का शरीर सर्दी से अकड़ा जाता था, आंखों से आग-सी निकल

रही थी, पांवों में शक्ति न थी। परन्तु वह फिर भी चल रही थी, जैसे सन्ध्या समय गऊ अपने भूखे बछड़े की तरफ भागती है। वहां पुत्र-स्नेह का आकर्षण होता है, यहां घर का मोह था। मिट्टी में भी मोहिनी है। मगर इसे देखने के लिए दिव्य-दृष्टि की आवश्यकता है। खाली आंख से वह दिखाई नहीं देती।

सुभागी चांदनीचौक में पहुंची, तब उसका दिल बैठ गया। अब न वह झोंपड़ा ही बाकी था, न भाड़। उनके स्थान में मिट्टी का एक ढेर और घास-फूस के तिनके पड़े थे, और इनके नीचे उसका साधारण माल-असबाब दब गया था। सुभागी के दिल पर जैसे किसीने आग के अंगारे रख दिए। मगर उसने धीरज नहीं छोड़ा। थोड़ी देर के बाद लोगों ने देखा, तो वह झोंपड़ा खड़ा कर रही थी। दूसरे दिन भाड़ भी तैयार हो गया। सुभागी फूली न समाती थी। उसके पांव पृथ्वी पर न पड़ते थे। उसने अपना उजड़ा हुआ घर बसा लिया था, जहां उसका पति उसे ब्याह कर लाया था।

४

भाड़ बन गया, पर गर्म होना उसके प्रारब्ध में न लिखा था। सुभागी बीमार हो गई, उसे बुखार आने लगा। सेठ जानकीदास ने पूछा, "सुभागी! तुझे यह क्या हो गया?"

सुभागी—सेठजी! वर्षा की सरदी खा गई हूं।

जानकीदास—और फिर दूसरी रात भी तो तू आराम से न बैठी। झोंपड़ा तैयार न होता तो कौन-सी प्रलय हो जाती!

सुभागी ने आश्चर्य की दृष्टि से सेठ साहब की ओर देखा और पीड़ा से बेहाल होकर कहा, "सिर छिपाने को भी तो स्थान न था, कहां ठोकरें खाती फिरती?"

जानकीदास—तू मेरे यहां चली आती तो क्या हर्ज था? मैं तो तेरा पड़ोसी हूं।

सुभागी—इसकी तो तुमसे आशा ही है।

जानकीदास—सुभागी, तू बनावट करती है। मेरी राय तो यह है कि मेरे यहां चली चल। वहां तेरी सेवा-सुश्रूषा होगी। बोल, क्या इरादा है ?

सुभागी के दिल में पहले तो ख्याल आया कि चली चलूं, वृद्धावस्था में चार दिन आराम से कट जाएंगे। पर फिर झोंपड़े के मोह ने इरादा बदल दिया। साथ ही पति के अन्तिम शब्द भी स्मरण हो आए। आह भरकर बोली, "सेठजी ! इस झोंपड़े से मैं न निकलूंगी, मेरी अर्थी निकलेगी।"

जानकीदास—तो यह कहो न, मरने की ठानी है।

सुभागी—अगर मौत ही भाग में लिखी है तो कौन टाल सकता है ! परन्तु यह झोंपड़ा तो न छूटेगा।

जानकीदास कुछ देर चुप रहे। इसके बाद एकाएक उनके दिल में कोई सुरुचिकर विचार उत्पन्न हुआ, जैसे निराशा के अंधेरे में आशा की किरण दिखाई दे जाती है। धीरे से बोले, "बहुत अच्छा ! पर मुझे इतनी तो आज्ञा दो कि तुम्हारी दवा-दारू और खाने-पीने का प्रबन्ध करा दूं। नहीं तो मुझे सदा के लिए शिकायत रहेगी।"

सुभागी सीधी-सादी स्त्री थी। उसने नई सभ्यता के छल-कपट नहीं देखे थे। वह उस युग की स्त्री थी जब लोग झठ बोलना पाप समझते थे। सेठ साहब की मीठी-मीठी बातों ने उसका दिल मोह लिया। उसने घास पर पड़े हुए सुन्दर फूल देखे, मगर उनके नीचे जो नाग छिपा था उसकी तरफ उसका ध्यान न गया। उसने उपकार के भाव से थरथराती हुई आवाज से कहा, "भगवान तुम्हारा भला करे। तुम आदमी नहीं, देवता हो।"

सुभागी का इलाज होने लगा। ऐसी लगन से किसी दयालु अमीर ने अपने प्रिय सम्बन्धी का भी इलाज न किया होगा। रात को कई-कई बार उठकर आते और सिरहाने खड़े रहते। रुपया-पैसा तो पानी के

समान बहा दिया। उन्हें उसकी परवा न थी। उनका ख्याल था कि किसी तरह बुढ़िया बच जाए तो भाड़ की जगह आप से आप दे देगी और जो न देगी तो कहूंगा मेरा रुपया चुका दे। गरीब भड़भूंजन है, इतना रुपया कहां से लाएगी?

छः महीने के बाद सुभागी चारपाई से उठी, तो उसका बाल-बाल सेठ साहब का ऋणी था। उनका धन उसके झोंपड़े को न खरीद सकता था, सहानुभूति ने उसे भी खरीद लिया। अब सुभागी पहली सुभागी न थी, बेपरवा, प्रसन्नवदन, शांतस्वभाव। अब उसकी जगह एक खरीदी हुई दासी रह गई थी, जिसके चेहरे पर कभी-कभी स्वाधीन सुभागी की स्वच्छ कान्ति दिखाई दे जाती थी। एक दिन वह था, जब सुभागी सेठ जानकीदास के आगे से ऐंठकर निकल जाती थी, परन्तु आज उनके सामने उसकी आंखें न उठती थीं। जिस काम को सख्ती न कर सकती थी, उसे नर्मी ने कर दिया। सुभागी सेठ साहब के पांव से लिपट गई और रोने लगी, परन्तु सेठ साहब ने उसे इस तरह उठा लिया, जैसे वह उनकी अपनी मां हो।

कुछ दिनों के बाद चांदनीचौक के व्यापारियों ने सुना कि सुभागी ने अपना झोंपड़ा सेठ साहब के हाथ बेच दिया है। यह खबर मामूली न थी, लोग चौंक पड़े। उनको इसपर विश्वास न होता था। सिर हिलाकर कहते, यह भी सेठ साहब की चाल है, बुढ़िया जीते जी झोंपड़ा न छोड़ेगी। कोई कहता, सेवा की थी, मेवा पा लिया। कोई कहता, यह अनहोनी बात है, किसीने यों ही उड़ा दी है। लेकिन जब झोंपड़ा उखाड़कर फेंक दिया गया और खुदाई का काम आरम्भ हो गया तब सबको विश्वास हो गया। सेठ साहब ने बाज़ी मार ली।

५

सुभागी सीधी-सादी ज़रूर थी, पर मूर्ख नहीं थी। सेठ साहब की बातचीत से उसे कुछ-कुछ सन्देह होने लगा। मगर कभी-कभी यह भी

ख्याल आता कि कहीं मैं भूल तो नहीं कर रही हूं। सुभागी असमंजस में पड़ गई। उसने आज तक किसीके सामने हाथ न पसारा था, न किसी-के आगे आंखें झुकाई थीं। गरीब होकर वह अमीरों की सी शान बनाए रहती थी। इस बीमारी ने उसका मान-धन लुटा दिया। उसका जीवन बच गया, पर जीवन-ज्योति जाती रही। वह अपनी दृष्टि में आप गिर गई। अब चांदनीचौक में उसके लिए आत्माभिमान की चाल चलनी कठिन थी। उसका हृदय कहता था, इस कलंक ने मुझे कहीं मुंह दिखाने के योग्य नहीं रखा। कुछ दिन इसी तरह गुजरे। मगर हर रोज संध्या के समय उसे ऐसा अनुभव होता, मानो उसके हृदय का अंधेरा, कन्धों का बोझा, जीवन का जंजाल बढ़ता चला जा रहा है, जैसे ऋणी का ऋण दिन-प्रतिदिन ज्यादा होता जाता है। सोच-सोचकर उसने यही निश्चय किया कि सेठ साहब का ऋण टहल-सेवा करके चुका दूं, नहीं तो चित्त को शान्ति न मिलेगी। यह सोचकर उसने एक दिन सेठ से कहा, "सेठ साहब! तुमने बड़ी कृपा की है। मेरा रोम-रोम तुम्हें आशीर्वाद दे रहा है। मुझमें यह उपकार उतारने का साहस नहीं। एक मजदूरनी क्या करेगी! पर मुझे मालूम तो हो कि मेरी बीमारी पर कितना खर्च हुआ। धीरे-धीरे उतार दूंगी।"

सेठ साहब का कलेजा धड़कने लगा। जिस क्षण की बाट जोहते थे वह आ गया। बही से हिसाब देखकर बोले, "साढ़े चार सौ।"

"साढ़े चार सौ?" सुभागी का चेहरा कानों तक लाल हो गया। उसे ऐसा मालूम हुआ मानो जमीन-आसमान घूम रहे हैं। कुछ देर चुपचाप खड़ी सोचती रही। इसके बाद आह भरकर बोली, "साढ़े चार सौ? इतनी रकम मेरी बीमारी पर उठ गई?"

जानकीदास ने सिर नीचे डाल लिया और कहा, "रोज डाक्टर आता था।"

सुभागी हतबुद्धि-सी खड़ी रह गई। क्या कहे, क्या न कहे, कुछ निश्चय न हो सका। जैसे भूले हुए मुसाफिर को रात के अंधेरे में

रास्ता नहीं मिलता तो हारकर बैठ जाता है, वैसे ही सुभागी ने कर्तव्य-विमूढ़ होकर उत्तर दिया, "यह ऋण मुझसे तो न उतरेगा।"

जब हमें कोई सख्त बात कहनी होती है तब ज़बान के नर्म बन जाते हैं। सेठ साहब ने अत्यन्त कोमल स्वर में कहा, "झोंपड़ा बेच दो। ऋण उतर जाएगा। सेठ साहब जानते थे कि सुभागी के कौन बैठा है जो उसकी मौत के बाद झोंपड़े पर अधिकार जमाने आएगा। इस समय वे अधीर हो रहे थे, जैसे नादान लड़का बुड्ढे पिता की मौत से पहले ही उसकी सम्पत्ति का मालिक बनना चाहता है।

सुभागी की आंखें खुल गईं। जहां फूल थे, वहां नाग दिखाई दिया। अब कोई सन्देह न था। सुभागी की आंखों में शील था। यह पिशाच-काण्ड देखकर दूर हो गया, तेज़ होकर बोली, "ज़बान संभालकर बोल। झोंपड़े की तरफ देखा भी तो आंखें निकाल लूंगी।"

सेठ साहब हंसे। इस हंसी में वे निर्दयता के भाव छिपे थे जो कसाइयों के दिल में भी न होंगे। फिर ज़रा ठहरकर बोले, "तो सुभागी! मेरी रकम लौटा दो। मैं तुम्हारा झोंपड़ा नहीं मांगता।"

सुभागी ने अभिमान से सिर उठाया और एक-एक शब्द पर ज़ोर देकर बोली, "अगर सच्चे भड़भूंजे की बेटी होऊंगी तो तुम्हारी कौड़ी-कौड़ी चुका दूंगी। पर यह झोंपड़ा तुम्हारे हाथ कभी न बेचूंगी।"

जानकीदास—बहुत अच्छी बात है। मैं भी देखता हूं कि कौन तुम्हें थैलियां खोले देता है।

सुभागी—मेरा भगवान मर नहीं गया है।

जानकीदास—अगर तुम्हारा झोंपड़ा बच जाए तो मुझे कम खुशी न होगी। मुझे तो अपनी रकम चाहिए।

सुभागी—मुझे पता न था कि तुम्हारे दिल में कपट भरा है।

जानकीदास—कलयुग का ज़माना है। अब नेकी करना भी पाप हो गया है।

सुभागी—पर तुमसे नेकी करने को कहा किसने था?

जानकीदास—भूल हो गई, क्षमा कर दो। फिर ऐसा न होगा।

सुभागी—मैं समझती थी, नेक आदमी है! पर आज आंखों से पर्दा हट गया।

जानकीदास—यही गनीमत है।

सुभागी—तुम्हें झोंपड़ा न मिलेगा। समझते होगे, दोनों दुकानें मिलाकर महल खड़ा कर लेगा। इससे मुंह धो रखो।

अब जानकीदास को भी क्रोध आ गया; तेज़ होकर बोले, "देखता हूं, कौन माई का लाल मुझे रोकता है। एक महीने के अन्दर-अन्दर इस झोंपड़े का नाम-निशान तक न रहेगा।

जिसका हाथ नहीं चलता उसकी ज़बान बहुत चलती है। सुभागी ने जो कुछ जी में आया कहा और अपने झोंपड़े में जाकर रोने लगी। कभी अपने भाग्य को देखती, कभी झोंपड़े की कच्ची दीवारों को, और फूट-फूटकर रोती, जैसे लड़की ससुराल जाते समय रोती है। उस समय उसके हृदय में कितना दुःख होता है, सीने पर कितना बोझ! उसे दुनिया की कोई चीज़ अच्छी नहीं लगती। यही अवस्था सुभागी की थी। झोंपड़े की एक-एक वस्तु देखकर उसका दिल लहू के आंसू बहाता था। इसी उधेड़-बुन में तीन-चार दिन गुज़र गए।

चौथे दिन एक आदमी शम्भूनाथ ने आकर पूछा, "सुभागी! अब तेरा क्या हाल है? तूने बड़ा कष्ट पाया।"

सुभागी—भगवान की दया है।

शम्भूनाथ—सुना है, सेठ जानकीदास ने तेरे लिए बहुत खर्च किया?

सुभागी—भैया! उस पापी का नाम न लो।

शम्भूनाथ—शहर में तो बड़ा जस हो रहा है। कहते हैं कि उसने सुभागी को बचा लिया। आदमी काहे को है, देवता है।

सुभागी—मेरा बस चले तो मैं उसका मुंह नोच लूं।

शम्भूनाथ—असली बात क्या है?

सुभागी—ऐसा हत्यारा सारी दिल्ली में न होगा। साठ-सत्तर रुपये खर्च करके कहता है, साढ़े चार सौ उठ गए। मैंने सोचा था, सारी आयु सेवा करती रहूंगी। पर उसकी आंख तो झोंपड़े पर है। कहता है, या रुपये दे या झोंपड़ा बेच। देखो तो कैसा अन्धेर है! इतना भी नहीं सोचता कि मेरे कौन बाल-बच्चे हैं, मरूंगी तो झोंपड़ा उसीको दे जाऊंगी। पर अब तो मेरा जी खट्टा हो गया है।

शम्भूनाथ—राम, राम! कलयुग का ज़माना है। ऐसा हमने कभी नहीं सुना था।

सुभागी—भैया! यह झोंपड़ा तो उसे कभी न दूंगी।

शम्भूनाथ ने सहानुभूति से कहा, "मगर क्या करोगी? वह तो नालिश कर देगा।

सुभागी निरुत्तर हो गई। इस बात का कोई जवाब न था। आंखें सजल हो गईं, जो बेबसी की अन्तिम सीमा है। एकाएक उसने सिर उठाया और धीरे से कहा, "तुम्हीं न खरीद लो। मैं तुम्हारे हाथ आज ही बेच दूंगी।"

शम्भूनाथ उछल पड़ा, "सुभागी, तुमने खूब सोचा।"

सुभागी—दांत खट्टे हो जाएंगे सेठ साहब के। मुंह देखते रह जाएंगे।

शम्भूनाथ—पता नहीं, संसार इतने पाप क्यों करता है?

सुभागी—धरती साथ तो चली न जाएगी।

उसके बाद खरीद-फरोख्त की बातचीत होने लगी। आठ सौ रुपये पर मामला हो गया। सुभागी के सीने से बोझ-सा हट गया, मगर फिर चित्त पर उदासीनता-सी छा गई, जैसे कोई व्यापारी अपने सौदे में कमाकर फिर किसी चिन्ता में निमग्न हो जाता है; और इस चिन्ता में उसकी खुशी जुगनू की चमक के समान आंखों से ओझल हो जाती है।

रात इन्हीं चिन्ताओं में गुज़र गई। दूसरे दिन वह कचहरी में थी और कचहरी का आदमी उससे कह रहा था, "बुढ़िया! यहां अंगूठा लगा दे।"

६

सुभागी ने ये शब्द सुने, मगर ठीक ऐसे, जैसे कोई स्वप्न में दूर की आवाज़ सुनता है और उसका तात्पर्य कुछ समझता है, कुछ नहीं समझता। उसने असावधानी से अंगूठा आगे कर दिया। कचहरी के आदमी ने उसपर स्याही पोत दी और उसे पकड़कर उसका निशान कागज़ पर लगा दिया। उसे क्या खबर थी कि यह स्याही मैंने कागज़ पर नहीं फेरी, अपने भविष्य की शान्ति और चित्त के सन्तोष पर फेर दी है। शम्भूनाथ ने आठ सौ रुपये गिनकर उसकी झोली में डाल दिए, सुभागी की आंखें चमकने लगीं। यह चमक दीपक की लौ थी, जो बुझने से पहले एक बार हंसती है और फिर सदा के लिए अंधेरे में लीन हो जाती है। कचहरी के बाहर आकर सुभागी को ख्याल आया कि मैंने यह क्या कर डाला। इतने रुपये यदि उसे पहले मिल जाते तो अपने झोंपड़े में जाकर शायद सौ बार गिनती और तब उन्हें कहीं दबा देती। पर अब कहां जाए। उसने बहुत सोचा, चारों तरफ देखा, परन्तु कोई स्थान दिखाई न दिया। लम्बी-चौड़ी दुनिया में वह अकेली थी। उसका कोई न था। उसके पास रुपये थे, सेठ साहब का ऋण चुकाकर भी उसके पास साढ़े तीन सौ बच जाते। लेकिन उसके पास रुपये रखने को जगह न थी। अन्धी-बहरी दुनिया में कौन उसका हाथ थामेगा, किस छत के तले जाकर वह विश्राम करेगी ? इधर-उधर सब आदमी थे, किन्तु सब पराये थे, उसका अपना कोई न था। एक झोंपड़ा था, सारी आयु का मूनिस-गमख्वार। सुभागी ने उसमें आधी जवानी और आधे बुढ़ापे के दिन गुज़ारे थे। छोटे-छोटे बच्चे, गरीब स्त्रियां, मज़दूर, ये सब आकर उससे अनाज भुनवाते थे। वह इन्हें अपना आत्मीय समझती थी। आज सब बिछुड़ गए। आज उसके घर का द्वार उसके लिए बन्द हो गया। बेचारी कहां जाए ? किधर ? लोग कचहरी से निकलते तो तेज़ी से शहर की ओर जाते। उनके घर होंगे। पर सुभागी का घर कहां है ? उसके पास राजसी महल न था, शानदार भवन न था, था एक फस का

झोंपड़ा और कच्चा भाड़। बेदर्दों ने वह भी छीन लिया। सुभागी रोने लगी। उसके हृदयवेधी शब्दों ने राह जाते मुसाफिरों के पांव पकड़ लिए, किन्तु वे कुछ कर नहीं सकते थे।

सन्ध्या समय था। सुभागी सेठ जानकीदास की दुकान पर पहुंची और डरते-डरते एक तरफ खड़ी हो गई, जैसे कोई फकीरनी हो। अब उसमें वह उत्साह, वह साहस न था, जिसकी सारी दिल्ली में धूम मची हुई थी। उस समय वह घर की मालकिन थी, अब बेघर थी, जिसका सारे संसार में कोई न था। सेठ साहब ने उसे देखा तो आंखों में पानी छलकने लगा। अहंकार के लाखों शत्रु हैं, नम्रता का एक भी नहीं। लोग भेड़ मारने को बन्दूक लेकर नहीं निकलते। अब सेठ साहब को किसपर क्रोध आता? एक बेघर की भिखारिन पर? वे लोभी थे, पर ऐसे पतित, इतने अधम न थे। बोले, "सुभागी!"

सुभागी ने झोली सेठ साहब के पांव पर उलट दी और कहा, "ये लो, तुम्हारे रुपये हैं। संभाल लो। तुमने साढ़े चार सौ कहा था, ये आठ सौ हैं। बाकी ब्याज समझ लो।"

कितना भारी अन्तर है! सेठ साहब अमीर थे, साढ़े चार सौ न बख्श सके। सुभागी गरीब थी, साढ़े तीन सौ ऐसे फेंक दिए, जैसे वे रुपये न थे, मिट्टी के ढेले थे। सेठ साहब को अपने पतन का अनुभव हुआ तो लज्जा ने मुंह लाल कर दिया। वे आगे बढ़े कि सुभागी के पांव पर गिरकर क्षमा के लिए प्रार्थना करें। उन्हें आज पहली बार ज्ञान हुआ कि इस बुड्ढी के हृदय में घर का ऐसा प्यार, इतना मोह भरा है। परन्तु सुभागी वहां न थी। हां, उसके रुपये दुकान के फर्श पर बिखरे पड़े थे। ये रुपये न थे, सुभागी के दिल के टुकड़े थे, लहू में सने हुए। सेठ साहब पर घड़ों पानी पड़ गया।

आधी रात को सुभागी अपने झोंपड़े में पहुंची, पर इस तरह जैसे कोई चोर हो। वह फूंक-फूंककर पांव धरती थी। कोई सुन न ले, कोई देख न ले। कभी वह इस झोंपड़े की रानी थी, आज परदेसिन। आज

उसका इसपर कोई स्वत्व, कोई अधिकार न था। उसने दीया जलाया। सब कुछ वहीं पड़ा था, उसी तरह। एक पीतल की थाली, एक लोटा, दो कटोरियां, एक टूटी-फूटी चारपाई, बस यही सब उसकी जायदाद थी। आज यह उससे विदा होने आई है। वह नये ज़माने की स्त्रियों में से न थी, जो अपना घर छोड़ते समय एक आंसू भी नहीं बहातीं, न उनके दिल पर ऐसे दुःखोत्पादक दृश्य का कोई प्रभाव पड़ता है। वह पुराने युग की अनपढ़ और असभ्य स्त्री थी, जिसके लिए घर छोड़ना और शरीर छोड़ना दोनों बराबर थे। वह अपनी चीजों से लिपट-लिपटकर रोई, मानो वे निर्जीव वस्तुएं न थीं, उसकी जीती-जागती सखियां थीं। इस समय सुभागी का हृदय रो रहा था। प्रातःकाल लोगों ने देखा, सब कुछ वहीं पड़ा है। केवल सुभागी का पता नहीं। घर मौजूद था, घर-वाली न थी। सेठ साहब ने बहुत खोज की। झोंपड़ा शम्भूनाथ ने नहीं खरीदा था, उसकी मार्फत खुद सेठ साहब ने खरीदा था। इसके लिए उन्होंने कई बार यत्न किया, उसकी जगह उसीको लौटा दें। अब यह झोंपड़ा उन्हें अपनी दुकानों का कलंक मालूम होता था। उन्होंने सुभागी की खोज की, पर उसका पता न मिला, यहां तक कि सेठ साहब निराश हो गए।

७

मगर सुभागी कहां थी ? दिल्ली से बाहर, जमुना के किनारे, जंगल में। कैसी आनवाली स्त्री थी ! जहां घर की मालकिन बनकर कई साल गुज़ारे थे, वहां बेघर होकर एक दिन भी न गुज़ार सकी और उसी रात जंगल में भाग गई। उसे शहर से घृणा हो गई थी। वह चाहती थी, ऐसे स्थान में जा रहे, जहां किसी परिचित का मुंह भी दिखाई न दे। वह मनुष्य की छाया से भी दूर भागती थी। उसका दिल टूट गया था। अब उसके कान आदमी की आवाज़ के भूखे न थे, न उसके लिए जगत् में आशा का मोहन गीत बाकी था। वह भूखी-प्यासी पागलों के समान

चली जा रही थी। पता नहीं, कहां ? शायद वहां, जहां मनुष्य-समाज की सहानुभूति और आशा-किरण का जादू न हो। वह अब ऐसा स्थल ढूंढ़ती थी, जहां कोई प्रसन्नता, कोई अभिलाषा, कोई मोहनी न हो। रात के अंधेरे में पत्थरों से टकराती, झाड़ियों में उलझती, गड्ढों में गिरती-पड़ती, ऊंच-नीच फांदती सुभागी इस प्रकार चली जाती थी, जिस प्रकार उड़ते हुए पक्षी की छाया चली जाती है और उसे कोई रोक नहीं सकता। किसी दूसरे समय वह इस जंगल में आकर कांप उठती, पर इस समय उसे जंगल से ज़रा भी भय न था। दुःख और निराशा में भय भी नहीं रहता; और जो अंधेरा उसके हृदय में समाया हुआ था, उसके सामने बाहर का अंधेरा तुच्छ था। वह मनुष्य और मनुष्य के विचार दोनों से दूर भाग रही थी। जंगल के हिंस्र जीव-जन्तु उसे आदमी से कहीं अधिक दयावान, शीलवान और उच्च मालूम होते थे। सोचती, ये झूठ नहीं बोलते, धोखा नहीं देते, बगल में छुरी दबाकर मुंह से मीठी-मीठी बातें नहीं करते। इन्हें चापलूसी करना नहीं आता। ये मनुष्य से हज़ारगुना अच्छे हैं। मनुष्य से इनकी तुलना करना इनका घोर अपमान करना है।

इसी तरह सोचती और मनुष्य-समाज और आधुनिक सभ्यता को कोसती हुई सुभागी जंगल के अंधेरे में बढ़ती चली जाती थी कि भूख-प्यास और सर्दी ने उसके पांव पकड़ लिए, और वह एक पत्थर पर बैठकर रोने लगी। रात का समय था। जंगल में अन्धकार छाया हुआ था। आदमी का पुतला तक दिखाई न देता था। सुभागी अपने भाड़ का स्मरण कर रोती थी, पर उसके आंसुओं को देखनेवाला सिवा आसमान के तारों के और कोई न था।

यहां सुभागी को पुराने ज़माने की एक कुटिया मिल गई। इसमें उसने एक महीना काटा। वृक्षों के फल खाती, जमुना का पानी पीती और रात को घास पर लेट रहती। यहां उसको कोई कष्ट न था, न खाने-पीने के लिए मज़दूरी करनी पड़ती थी। किन्तु घर का मोह यहां भी न

गया। यह मिट्टी की ज़ंजीर जीते जी किसीके पांव से कब उतरी है ? विवश होकर एक दिन उसने कुटिया को छोड़ दिया और दिल्ली को लौट पड़ी। इस समय उसके पांव पृथ्वी पर नहीं पड़ते थे। मगर शहर के समीप आकर उसका दिल बैठ गया। कहां जाऊंगी ? इस शहर में अब मेरा कौन है ? लोग देखेंगे तो क्या कहेंगे ? सोच-सोचकर निश्चय किया कि रात को जाऊंगी, जिसमें कोई देखने न पाए। पर रात बहुत देर में आई। हतभागों से समय की भी शत्रुता है।

सुभागी अपने झोंपड़े के पास पहुंची तो उसपर बिजली-सी गिर पड़ी। वहां झोंपड़ा न था, न उसका भाड़ दिखाई देता था। ज़मीन खुदी हुई थी, छोटी-छोटी दीवारें खड़ी थीं। यह इमारत न थी, उसके सुखों की समाधि थी। सुभागी ने एक चीख मारी और वहीं बैठ गई। किन-किन आशाओं से आई थी, सबपर पानी फिर गया। उसे ऐसा मालूम हुआ, मानो चांदनी-चौक की सारी रोशनी बुझ गई है और आसमान के तमाम तारों ने अंधेरे की चादर में मुंह छिपा लिया है। एकाएक उसे ख्याल हुआ कि मेरा पति मुझे लेने आएगा तो कहां ढूंढ़ेगा ?

दूसरे दिन इस दुकान के दरवाज़े पर उसका मृत शरीर पड़ा था। उसका वचन झूठा न निकला। उसने दुनिया छोड़ दी, पर अपना झोंपड़ा न छोड़ा। आज वह सुभागी कहां चली गई ? किधर ? किस देश को ? वहीं, जहां उसका पति, उसका भाड़, उसका झोंपड़ा जा चुका था। वह पुराने युग की स्त्री थी, अपने घर के बिना अकेली कैसे रहती ? नई दिल्ली में पुरानी दिल्ली का अंतिम दीया जल रहा था, वह भी बुझ गया।

सेठ जानकीदास कई दिन तक घर से बाहर नहीं निकले।

बचपन की एक घटना

अफसोस ! बचपन के वे हरे-भरे बाग-बगीचे कहां चले गए ? वह जीवन, वह उल्लास, वह निश्चिन्तता, वह खेल-कूद का सुहावना समय आज भी याद आता है तो दिल को ठेस-सी लगती है। कैसा अद्‌भुत ज़माना था जो इतनी जल्दी बीत गया ! कभी-कभी ऐसा मालूम होता है, जैसे अभी कल की ही बात है। इतने वर्ष गुज़र गए, दुनिया कहीं से कहीं जा पहुंची ; मगर वह हाथ न आनेवाला समय अभी तक बायस्कोप की तसवीरों के समान आंखों के सामने फिर रहा है। वह मैला बस्ता, वे स्याही के दागों से भरी हुई मोटे-मोटे अक्षरोंवाली कापियां, वे शीशे की रंगदार गोलियां, वे बचपन के मित्र—क्या ऐसी चीज़ें हैं, जो कभी भूली जाएं ! उन दिनों एक पैसा लेकर जो खुशी होती थी वह आज सैकड़ों और हज़ारों रुपये लेकर भी नहीं होती। उन दिनों रबड़ की एक साधारण गेंद में जो आनन्द था, आज वह बड़े ओहदे में भी दिखाई नहीं देता। वे आंखें ही नहीं रहीं।

हम दो भाई थे, मैं और विष्णु। एक बहिन थी। मैं उन सबमें छोटा था, इसलिए माता-पिता मुझे सबसे ज़्यादा प्यार करते थे। और मेरी मां तो मुझे बहुत ही चाहती थी। असम्भव था कि मैं कोई चीज़ मांगूं और मुझे वह न मिले। घर में फल या मिठाई आती तो सबसे ज़्यादा हिस्सा मुझे मिलता। नये कपड़े सिलवाते समय भी सबसे ज़्यादा कपड़े मेरे लिए बनते थे। यह पक्षपात मेरे बहिन-भाई के लिए असह्य था।

वे कभी-कभी इसपर झुंझला भी उठते थे, कभी-कभी रूठ भी जाते थे, परन्तु मेरा इससे कुछ बिगड़ता न था। मां सदा मेरा पक्ष लेती थीं। हाय शोक! वह प्यार-मुहब्बत की जीती-जागती मूर्ति आज इस नश्वर संसार में कहीं दिखाई नहीं देती, परन्तु उसका रानियों की तरह मुस्कराता हुआ वह गोल, पवित्र, प्यारा चेहरा आज भी मेरे हृदय-पटल पर उसी तरह अंकित है। पिताजी शिमला में नौकर थे। इसलिए, वे प्रायः वहीं रहते थे, परन्तु मां का स्नेह-अमृत बाप के प्रेम-अभाव की पूर्ति कर देता था। आज मालूम होता है, मां दुनिया में कैसी प्यारी, कैसी मीठी चीज़ है!

मुझे वह दिन कल की तरह याद है, जब मां किसी काम से बाहर गई और मेरे रोने-चिल्लाने पर भी मुझे बहन के पास छोड़ गई। यह पहला अवसर था जब मां ने मेरे साथ ऐसा अन्याय किया। चलते समय जब उसने मेरे सिर पर हाथ फेरने के लिए मुझे पुचकारकर अपने पास बुलाया तो मैं आंखों में आंसू भरकर एक कोने में चला गया और क्रोध से बोला, "अब हम तुमसे कभी न बोलेंगे। वापस आओगी, जब भी न बोलेंगे।"

मां के चेहरे पर मुस्कराहट आ गई। उसने मेरी ओर प्रेमपूर्ण दृष्टि से देखा और बहन को मेरे लिए चार पैसे देकर चली गई। मैं वहीं खड़ा रहा। जब तक वह नज़र आती रही, मैं चुपचाप उसकी तरफ घूर-घूरकर देखता रहा। परन्तु उसके घर से बाहर निकलते ही मैं अधीर हो गया और चीख मारकर दरवाज़े की तरफ दौड़ा, जैसे बछड़ा गाय की तरफ लपकता है। बहन ने मेरे हाथ पकड़ लिए। मैंने उससे हाथ छुड़ाने का बहुत यत्न किया, उसका मुंह नोच लिया, उसके हाथ काट खाए; मगर उसने न छोड़ा, मैं सटपटाकर रह गया। मां चली गई।

मैं उदास रहने लगा। उस समय मेरी उमर बारह वर्ष के लगभग होगी। मैं इससे पहले कभी मां से अलग न हुआ था, न मैंने कभी कल्पना की थी कि वह मुझे बहन के पास छोड़कर इतनी दूर चली जाएगी। मेरे दिल में कुछ-कुछ होने लगा। ऐसा मालूम होता था जैसे

घर में बिलकुल अकेला रह गया हूं, जैसे मां अब कभी घर को न लौटेगी, जैसे चारों तरफ अंधेरा छा गया है।

विष्णु खेल-कूद में मस्त रहता था; मगर बहन को हरदम मेरी ही चिन्ता थी। जो पैसे उसे अपने लिए मिले थे, वह भी मुझे ही खिला देती थी। वह चाहती थी, मैं उदास न हो जाऊं। मुझे हंसते-खेलते देखकर उसकी आंखें चमकने लगती थीं। मेरे स्कूल से आने का समय होता, तो वह द्वार पर खड़ी मेरी राह देखा करती। मुझे देखती, तो आकर मेरे हाथ से बस्ता पकड़ लेती और कहती, "मैं तेरी बाट जोहती थी। चल, हाथ-मुंह धोकर खाना खा ले। रात को वह कुप्पी से ड्योढ़ी देखती और दरवाज़ा बन्द करके हमको अन्दर ले जाती। मुझे अपने साथ सुलाती और जब तक हम दोनों भाई सो न जाते, तब तक फूल राजकुमारी की, सुनहरी नदी की, सब्ज़ परी की, काले देव की कहानियां सुनाया करती थी। ऐसा मालूम होता था, मानो मां की अनुपस्थिति में उसका सारा प्यार बहन ने ले लिया है। वही स्नेह था, वही त्याग, वही हृदय, वही भाव। कभी-कभी सन्देह होता था, बहन नहीं—मां है।

इसी तरह पांच दिन हंसी-खुशी में कट गए। छठे दिन स्कूल जाने लगा, तो ताक पर एक रुपया पड़ा देखा। मेरा दिल धड़कने लगा। सोचा, अगर यह रुपया मेरे हाथ लग जाए तो मज़ा आ जाए, अपनी कक्षा में सबसे अमीर बन जाऊं। जिसको दिखाऊं वही दंग रह जाए। पिपरमैंट की टिकियां और खट्टी-मीठी अंग्रेज़ी गोलियां खरीद लूं और सबको दिखा-दिखाकर खाऊं। वे मांगें, जब भी न दूं। एक रबड़ ले लूं, एक शीशे की चोर दवात, बहुत-से किताबों पर चिपकानेवाले चित्र और एक गेंद। जो देखे वही वाह-वाह करे।

सहसा विचार आया कि अगर चोरी पकड़ी गई, तो फिर क्या हो? पिट जाऊं, ऐसी बेभाव की पड़ें कि खाया-पिया सब निकल जाए। मैंने रुपये की तरफ से आंखें हटा लीं और बाहर जाने को तैयार हुआ, मगर आंखें फिर उधर ही देखने लगीं। पिपरमैंट की टिकियां, खट्टी-मीठी

गोलियां, रबड़, गेंद—सब चीजें मेरे सामने आकर खड़ी हो गई और मुझे बुलाने लगीं। उठते हुए पांव फिर रुक गए। ख्याल आया, कोई देखता थोड़े ही है! अगर कोई पूछेगा तो साफ कह देंगे, हमें क्या मालूम? हमने तो देखा भी नहीं। एक पैसा रोज मिलता है, वही खा लेते हैं। हमको रुपये से क्या मतलब?

मैंने इधर-उधर देखा, मैदान साफ था। बहन बाहर आंगन में पुराने कपड़े छांट रही थी, विष्णु बस्ता बगल में दबाए गेंद को उछाल-उछाल-कर गोंच रहा था और मेरे सामने एकान्त में सफेद, गोल, चमकदार रुपया ताक पर पड़ा था। मैंने धड़कते हुए दिल से हाथ बढ़ाया और रुपया उठाकर जेब में रख लिया।

स्कूल में पहुंचा तो मेरा दिमाग आसमान पर था। ऐसा खुश था, जैसे मुझे राजसिंहासन मिल गया है, जैसे मैं हवा में उड़ा जा रहा हूं। पढ़ने में किस मरदूद का जी लगता था! जिसके पास एकदम एक रुपया हो, अगर वह भी पढ़ने में मन लगाए तो उससे अभागा कौन होगा? मैं बार-बार जेब टटोलकर देखता था कि रुपया वहीं है न, किसीने निकाल तो नहीं लिया। आखिर एक बजा और आधी छुट्टी हुई। मैंने सबसे पहले जाकर एक आने की खट्टी-मीठी गोलियां खरीदीं, एक आने का रबड़ लिया और बाकी पैसे जेब में डालकर अमीराना चाल से धीरे-धीरे स्कूल की तरफ लौट आया। इस समय मेरे पांव धरती पर न पड़ते थे। गोलियां मुंह में डालकर चूसता था और सिर उठा-उठाकर दूसरे लड़कों की ओर देखता था, और कहता था—देखते क्या हो, एक आने की मिठाई है। तुमने बहुत किया, पैसे की खरीद ली; हमने एक आने की खरीदी है! थोड़ी देर में मेरी अमीरी सब लड़कों में मशहूर हो गई। वे सारे पास बैठने के लिए आपस में झगड़ने लगे। जब छुट्टी हुई तो तीन लड़के मेरे साथ हो गए। जानते थे कि आज इसके पास बहुत पैसे हैं, खाएगा और खिलाएगा।

अब सवाल था कि क्या खाएं। बहुत देर 'बहस' होती रही। अन्त

में दही-बड़े खाने का निश्चय हुआ। हम सब मिलकर चार लड़के थे, चार-चार पैसे के दही-बड़े खा गए। जनाब ! पूरी चवन्नी का खून हो गया, पर मुझे ज़रा भी परवा न थी---अभी काफी रकम बाकी थी। यहां से उठकर मैंने चार पैसे की चूरन की पुड़ियां लीं, और सबको एक-एक बांट दी। इसके बाद रेवड़ियां खरीदीं और जेबें भर लीं। ज़रा आगे बढ़े तो बिस्कुटों की दुकान नज़र आई। मेरे पांव वहीं रुक गए। शीशे की दवात, किताब पर चिपकानेवाली तस्वीर सबका ख्याल जाता रहा। मैंने चार आने के बिस्कुट खरीद लिए और थोड़े-थोड़े अपने साथियों को देकर बाकी खुद खाने लगा। उनकी वह सोंधी-सोंधी बू आज भी याद आ रही है। अब वे बिस्कुट कई बार फिर खाए हैं, मगर वह स्वाद कहां ? वह बात ही और थी। जितने खा सकता था, खाए। बाकी कागज़ में लपेटकर बस्ते में रख लिए। रबड़, चूरन, रेवड़ियां और कुछ पैसे जो बच गए थे, वे भी रख लिए। इससे बढ़कर सुरक्षित स्थान मेरे पास और कोई न था। इतने में शाम हो गई। मैं डर गया, आज मुझे घर जाने में बहुत देर हो गई थी। मैंने अपने लोभी दोस्तों से छुट्टी ली और घर को भागकर चला।

बहन आज भी द्वार पर खड़ी मेरी बाट जोह रही थी। मुझे देखते ही गली में चली आई और प्यार से डांटकर बोली, "आज कहां बैठा रहा था तू ? यह भी ख्याल नहीं कि बहन राह देखती होगी।"

मैं पहले ही जानता था कि मुझसे देरी का कारण पूछा जाएगा, इसका जवाब भी मैंने सोच रखा था; बिना संकोच के कहा, "चौक में भानमती का तमाशा हो रहा है। वहीं खड़ा हो गया ज़रा। बड़ा बढ़िया तमाशा था बहन !"

यह कहकर मैं जल्दी से घर में चला, ताकि बहन बस्ता न देख ले। बस्ता रखकर आंगन में आया, तो बहन ने कहा, "आ, खाना खा ले, विष्णु तो कभी का खा चुका।"

मगर मुझे भूख ही कहां थी, बोला, "आज सारा दिन पेट में दर्द होता

रहा है, अभी तो मुझे ज़रा भी भूख नहीं है।"

बहन ने आकर हाथ पकड़ लिया और प्यार से पूछा, "दर्द क्यों हो रहा है?"

मैं क्या जवाब देता। 'पता नहीं' के सिवा मेरे पास कोई जवाब न था।

बहन--सौंफ का अर्क मंगवा दूं। अभी आराम हो जाएगा। क्यों?

मैं--नहीं बहन! अर्क न पीएंगे। बड़ा कड़वा होता है।

बहन--मगर आराम तो हो जाएगा उससे।

मैं--हमारे अब दर्द थोड़ा ही होता है, वह तो स्कूल में होता था। अब बिल्कुल आराम है। सिर्फ भूख नहीं है।

विष्णु ने दूर ही से कहा, "झूठ बोलता है यह। लाओ पैसा, अभी दौड़कर ले आएं। नहीं तो रात को चारपाई पर बैठकर रोएगा, फिर हमसे कहोगी, जाता क्यों नहीं, पर हम अंधेरे में न जा सकेंगे, बेशक पड़ा रोया करे। और क्या?"

मैं--न जाना, तुम्हारी, मिन्नत कौन करता है? चले हैं धमकियां देने!

विष्णु--जब रात में दर्द होगा, उस वक्त पूछेंगे हम।

मैं--तो क्या तुम्हें कभी न होगा? क्या कभी बुखार भी न चढ़ेगा? तब फिर हम भी तुम्हारे लिए दवा न लाएंगे।

बहन--मगर तुम अर्क पी क्यों नहीं लेते? उसमें चीनी छोड़ दूं तो ज़रा भी कड़वा न मालूम हो। एक मिनट में गले से उतर जाए।

मैं--हमें दर्द नहीं, तो हम क्यों पिएं? इसकी जरूरत नहीं है।

बहन चुप हो गई और जाकर खाना खाने लगी। अब मुझे सन्तोष हुआ कि मेरी चोरी की तरफ किसीका ध्यान ही नहीं है। मगर दूसरे दिन उठते ही सुना, बहन विष्णु से कह रही है, "देख विष्णु! रुपया सीधे हाथ से दे दे, नहीं तो पिटेगा।"

विष्णु--मगर मैंने तो रुपया देखा ही नहीं है, दे कहां से दूं?

बहन--देखा नहीं है तो क्या ज़मीन खा गई ?

विष्णु--हमें क्या मालूम ? हरि ले गया होगा।

मेरा कलेजा धड़कने लगा, परन्तु मैं करवट बदलकर चुपचाप लेटा रहा, मानो मुझे गहरी नींद आ रही है।

बहन--हरि ऐसा लड़का नहीं है। मुझे उसपर ज़रा भी सन्देह नहीं। हो न हो, यह तेरी ही शरारत है। अब भी लौटा दे, अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा, वरना याद रख, मांजी अभी आती होंगी। पिट जाएगा। आते ही कह दूंगी।

विष्णु--सौ दफा कह देना, हज़ार दफा कह देना। जब हमने उठाया ही नहीं, तो हमें डर काहे का है !

बहन--फिर किसने उठाया है ? बता !

विष्णु--हरि ने, (एकाएक चिल्लाकर और आवाज़ को लम्बा करके) हां, हां ? जभी कल रात भूख न थी (चुटकी बजाकर) अब समझा। जनाब ने मिठाई खाई होगी, जलसे किए होंगे, और नहीं क्या ?

मालूम होता है, यह सुनकर बहन को भी हमारी नेक चलनी पर सन्देह हो गया। थोड़ी देर बाद वह आकर मेरी चारपाई पर बैठ गई और मुझे धीरे से हिलाकर बोली, "हरि !"

मैं चुपचाप लेटा रहा।

बहन--(ज़रा ज़ोर से) ओ हरि !

मैं अब भी न बोला।

बहन--(मेरा कन्धा हिलाकर और भी ज़ोर से) हरि !

मैं आंख मलता हुआ उठकर बैठ गया, परन्तु बहन के मुंह की ओर देखने की मुझमें हिम्मत न थी।

बहन--तुमने ताक पर से रुपया नहीं उठाया ? कल ही रखा था।

मैं--(आश्चर्य प्रकट करते हुए) मैंने !

बहन--हां, तुमने, अगर लिया हो तो दे दो, वर्ना मांजी आ रही हैं,

अभी आध घण्टे के अन्दर-अन्दर। स्टेशन पर पहुंच चुकी होंगी।

मैं—हमने नहीं लिया। हमने देखा भी नहीं। हम तो ताक की तरफ गए नहीं।

बहन—अजब बात है। न तुमने लिया है, न विष्णु ने, तो फिर क्या चोर ले गए ?

मैं—हमें क्या मालूम, हमने नहीं देखा। अच्छी तरह ढूंढ़ो, शायद चूहे ले गए हों।

बहन को मेरे अनाड़ीपन पर हंसी आ गई, बोली, "चूहे ले गए हों ! यह खूब रही। देखो हरि, मुझे विश्वास हो गया है कि रुपया तुमने चुराया है। सच-सच बता दो, कहां है ?"

मगर मैं रोता था और बार-बार कहता था, "मैंने रुपया नहीं देखा।"

इतने में विष्णु ने आकर मेरा बस्ता बहन के सामने पटक दिया और बोला, "लो बहनजी ! देख लो, यह रबड़, यह बिस्कुट, यह चूरण, ये पैसे—यह सब कुछ कहां से आया ? तुम मानती ही न थीं। अब कहो कौन चोर है ?"

बहन ने सब चीजें देखीं और पैसे गिनकर कहा, "अरे कुल दो आने बचे हैं ? तो क्या चौदह आने खा गया तू ? (सिर हिलाकर) जभी रात भूख न थी। क्या खाया था ?"

मेरा लहू सूख गया। मुंह में जीभ थी, जीभ में बोलने की शक्ति न थी। जमीन की तरफ देखता था, और सोचता था—अब क्या होगा, कल दही-बड़े, मीठी टिकियां और बिस्कुट खाए थे, आज मार खानी होगी। मैं चाहता था, खाना खाए बिना स्कूल भाग जाऊं, परन्तु उस दिन इतवार था, भाग्य ने भागने का यह रास्ता भी बन्द कर रखा था। अब मेरे बचाव का एक ही तरीका था, मां आज न आएं। किसी कारण से एक-दो दिन और वहीं रुक जाएं या मुझे बुखार चढ़ जाए, या निमोनिया हो जाए। कभी-कभी यह भी ख्याल आता था कि मकान की छत गिर पड़े और मैं नीचे दबकर जख्मी हो जाऊं, परन्तु परमात्मा ने मेरी कोई शुभ इच्छा पूरी न की और थोड़ी

देर बाद मां आ गई।

किसी दूसरे समय मैं दौड़कर मां की टांगों से चिमट जाता; मगर आज वह उमंग कहां ? उलटे उसे देखकर मैं अन्दर जा छिपा। परन्तु विष्णु को यह सब्र कहां कि दो मिनट भी चुप रह जाता। मां अभी आराम से बैठी भी न थी कि उसने कहा, "मांजी ! कल हरि ने रुपया चुराया था।"

पता नहीं, मां गाड़ी में किसीसे लड़कर आई थी या और कुछ कारण था; मगर इस समय वह खफा ज़रूर थी। मेरी शिकायत सुनकर उसे और भी ज़हर चढ़ गया, बहन से बोली, "क्या बात है मोहिनी ?"

बहन—कुछ भी नहीं। पहले तुम नहा तो लो।

मां—नहा बाद में लूंगी। कहां है, ज़रा बुलाओ तो उसे मेरे सामने। अब चोरी भी सीखने लगा !

विष्णु—(उंगली से इशारा करके) अन्दर छिपा हुआ है मांजी ! अभी यहां खड़ा था। तुम्हें आते देखा तो अन्दर भाग गया। चौदह आने खर्च कर डाले। सिर्फ दो आने के पैसे बचे हैं। कल सारा दिन बिस्कुट खाता रहा है। रात कहता था, 'मुझे भूख नहीं है।'

बहन—भागता है या नहीं यहां से। चला है बड़ा खुशखबरी सुनाने ! दो मिनट चुप रहता तो क्या तेरा पेट फट जाता, कलमुंहा कहीं का !

मां—चौदह आने खा गया एक दिन में ! कहां है, मैं उसकी हड्डियां तोड़ दूंगी। वह भी क्या याद करेगा कि कभी चोरी की थी। हरि ! ओ हरि, ज़रा यहां आ। छिपता कहां है ?

मैं धीरे-धीरे जाकर मां के सामने खड़ा हो गया; मगर इस हालत में जैसे शरीर में जान ही न हो। मां ने मेरी तरफ लाल-लाल आंखों से देखा और बोली, "तूने चोरी की है ?

मैंने अपनी सजल आंखों से उसकी तरफ देखा और ठण्डी सांस भरकर सिर झुका लिया।

मां—बोलता क्यों नहीं ?

मैं चुप रहा।

मां—अब तो जैसे मुंह में ज़बान ही नहीं है। मैं क्या पूछ रही हूं ! सुनता है या नहीं।

मैं सोचता था, 'क्या करूं। बोलूं तो कठिनाई, न बोलूं तो कठिनाई। इधर मेरी चुप्पी मां की क्रोधाग्नि पर तेल का काम कर रही थी, पर मैं बोलता न था कि बोला तो पिट जाऊंगा।'

आखिर मां का क्रोध सीमा पर पहुंच गया। उसने रोटियां बेलनेवाला बेलन उठा लिया और कहा, "बोलता है या नहीं। तूने चोरी क्यों की ?"

मैं—(डरते-डरते गालों पर हाथ रखकर) अब न करूंगा।

परन्तु अभी बात पूरी भी न होने पाई थी कि बेलन मेरी पीठ पर था। एक बार 'हाय' का शब्द मेरे मुख से निकला और मैं चुप हो गया। मालूम होता है मां मेरी चुप्पी से चिढ़ती थी। शायद सोचती हो कि वह रोता नहीं है इसलिए इसे और सज़ा मिलनी चाहिए। उसने फिर बेलन उठाया, मेरी 'चीखमय' हाय फिर हवा में गूंज उठी। फिर चारों तरफ निस्तब्धता छा गई। इसी तरह कई मिनट तक मैं गलतफहमी में मार खाता रहा। आज सोचता हूं, अगर रोना शुरू कर देता, तो इतना कभी न पिटता, मगर उस समय बाल-नीति के इस चाल-कांड का ज्ञानी ही न था। मैं चुपचाप मार खाता जाता था, मां का क्रोध बढ़ता जाता था। परमात्मा भला करे बहन का जिसने मुझे बचा लिया, वर्ना न जाने मेरे भाग्य में उस दिन क्या बदा था !

दोपहर के समय बहन ने आकर मेरे सिर पर हाथ फेरा और मुझसे कहा, "जाकर मांजी से क्षमा मांग ले, नहीं घर से निकाल देंगी।"

मैं भले लड़के की तरह मां के पास गया और हाथ बांधकर धीरे से बोला, "फिर ऐसी भूल न करूंगा।"

मां ने मुझे पकड़कर गले से लगा लिया और फूट-फूटकर रोने लगी।

रोती थी और कहती थी, "बेटा ! तूने क्यों चोरी की ? न चोरी करता, न मार खाता। उस समय क्रोध में मार बैठी। अब पछता रही हूं।"

थोड़ी देर बाद उसने मेरे लिए बाज़ार से गरम-गरम दूध मंगवाया और जब तक सामने बैठकर पिला न लिया तब तक उसे चैन न आया। तब उसने मुझे गोद में लेकर प्यार किया और कहा, "बेटा ! घर में मां-बाप और स्कूल में मास्टर तुम्हारे ही भले के लिए मारते हैं। उनके मारने का बुरा नहीं माना करते।"

कुछ दिनों बाद स्कूल में मास्टर साहब ने किसी साधारण-सी भूल पर मुझे इस तरह मारा, जैसे मैंने कोई नर-हत्या कर डाली हो। मगर मारने के बाद उनकी आंखों में एक भी आंसू न था; न उन्होंने मुझे गरम दूध पिलाया, न गोद में लेकर प्यार किया। मेरे मन में विचार आया, मां भी मारती है, मास्टर भी मारता है। निस्संदेह दोनों के दिल में मेरी भलाई की इच्छा है। परन्तु दोनों के मारने में कितना अन्तर है ? मां मारती है और रोती है ; मास्टर मारता है और भूल जाता है।

धर्म-सूत्र

ज्येष्ठ का महीना था, दोपहर का समय। आकाश से आग बरसती थी। बाज़ार खुला था, मगर वहां कोई आदमी नज़र न आता था। धूप की तरफ देखने से भी गरमी लगती थी, मानो यह धूप, धूप न थी; जलता हुआ अलाव था। लाला चन्दूलाल और उनकी स्त्री अपने मकान के कच्चे फर्श पर लेटे थे। परन्तु गरमी के मारे नींद न आती थी। हां, कभी-कभी ऊंघ जाते थे, जिससे मन और ज़्यादा खराब हो जाता था। इतने में किसीने द्वार खटखटाया।

लाला चन्दूलाल सोते न थे, मगर उनको इस आनेवाले पर क्रोध आया। सोचा, ऐसे कुसमय में आनेवाला कौन है? हम तकलीफ में बहुत जल्द झुंझला उठते हैं। गरम पानी को उबालने के लिए तेज़ आग की आवश्यकता नहीं, हलकी-सी आंच ही काफी है। लाला चन्दूलाल ने उसी तरह लेटे-लेटे पूछा, "कौन है इस समय?"

"जल्दी दरवाज़ा खोल दो।"

चन्दूलाल का हृदय धड़कने लगा—यह उनके प्यारे मित्र द्वारकादास थे। उनका क्रोध एक क्षण में दूर हो गया। जल्दी से कुरता पहना। स्त्री से कहा, कपड़े ठीक कर लो। बिस्तर से चादरनिकालकर भूमि पर बिछा दो, और जाकर दरवाज़ा खोल दिया। द्वारकादास घबराए हुए अन्दर आए। उन्होंने कोट-टोपी उतारकर खाट पर रख दी और आप भूमि पर लेट गए। मुंह से बात न निकलती थी।

चन्दूलाल ने उन्हें प्रेमपूर्ण क्रोध की दृष्टि से देखकर कहा, "इस दोपहर में बाहर निकलने की क्या पड़ी थी ? ज़रा बचकर रहा करो, नहीं तो लू लग जाएगी।"

चन्दूलाल की स्त्री जमना छोटा-सा घूंघट निकाले एक कोने में खड़ी थी। उसने द्वारकादास की तरफ देखकर धीरे से कहा, "इस गरमी में भी भला कोई बाहर निकलता है ? सारे कपड़े पसीने में तर हो गए।"

चन्दूलाल ने पंखे की रस्सी खींचते हुए कहा, "मैं पंखा खींचता हूं। तुम कुएं से जाकर थाड़ा ताजा पानी ले आओ।"

जमना ने ज़रा भी ननु-नच न किया और घड़ा उठाकर पानी लेने चली गई। थोड़ी देर बाद द्वारकादास ने आंखें खोलीं और बोले—यहां आकर ऐसा मालूम होता है, जैसे किसीने नदी में फेंक दिया हो। कैसी ठंडी जगह है, गरमी नाम को नहीं।

चन्दू०—बाहर से आए हो, तभी ये बातें बना रहे हो। हमारा तो दम घुटा जाता है।

द्वारका०—कदाचित् यही कारण होगा। बाहर तो आग बरसता है।

चन्दू०—मगर तुम इस समय आए किधर से हो ?

द्वारका०—एक आसामी की तरफ गया था। उसने बहुत तंग कर रखा है। सोचा, दावा करने से पहले एक बार अन्तिम प्रयत्न कर देखूं, शायद मान जाए। परन्तु वह किसीकी सुनता ही नहीं। अब नालिश किए बिना काम न चलेगा।

चन्दू०—तो क्या पैदल गए थे ?

द्वारका०—नहीं, गया तो तांगे पर था। पर अब पैदल ही आ रहा हूं। समझो जान बच गई। नहीं, मरने में कसर न थी। तांगा टूट गया, घोड़ा ज़ख्मी हो गया।

चन्दूलाल ने आश्चर्य से पूछा, "अरे, यह कैसे ?"

द्वारका०—घोड़ा बेकाबू हो गया था। तांगा एक वृक्ष से टकरा गया।

चन्दू०—और, साईस क्या सो रहा था ?

द्वारका०—उसने हाथ-पांव तो बहुत मारे, पर उसकी कुछ चली नहीं। कुसमय में साहस भी साथ छोड़ देता है।

चन्दू०—खैर ! जान बच गई, यही बड़ी बात है। कहो, खाना तो अभी न खाया होगा ?

द्वारका०—कभी का खा चुका। एक मित्र मिल गए थे, उन्होंने खिला दिया।

एकाएक द्वारकादास ने इधर-उधर देखकर पूछा, "भाभीजी कहां चली गई हैं ?"

"तुम्हारे लिए पानी लेने गई थीं, लो, वह आ गई।"

द्वारकादास को बहुत दुःख हुआ। हम अपने मित्र को कष्ट दे सकते हैं, उससे लड़ाई-झगड़ा करने में भी हमें संकोच नहीं होता। मगर मित्र की स्त्री के सामने पहुंचकर हम धर्म और दया के अवतार बन जाते हैं। द्वारकादास ने कहा, "यह तुमने इनपर जुल्म किया है। मैं दुबारा तुम्हारे यहां पैर न रखूंगा।"

इतने में जमना पानी का घड़ा लिए अन्दर आ गई और बोली, "शरबत घोल दूं ?"

द्वारकादास ने उसकी तरफ कातर दृष्टि से देखकर कहा, "भाभी ! तुमने मुझसे क्यों न कहा ? मुझे मालूम नहीं हुआ, नहीं तो इस धूप में तुम्हें बाहर न निकलने देता।"

जमना लजा गई, जो सुशील स्त्रियों का स्वभाव है। उसने मुंह से कुछ न कहा। परन्तु उसके हाव-भाव साफ कह रहे थे, यह तो रोज का काम है, कोई नई बात नहीं।

२

द्वारकादास ने ठंडा जल सिर में डाला, मिसरी का शरबत पिया, तब जान में जान आई। मगर अभी उनमें घर जाने की शक्ति न थी। ऐसी गरमी में तीन मील का सफर कौन तय करे ? दो बज गए थे, यह समय उनके सोने का था। आंखें अपने-आप बन्द होने लगीं। शरीर में आलस्य छा गया, जो निद्रादेवी के आगमन की पूर्व-सूचना है। द्वारकादास ने बहुत यत्न किया कि आंखें बन्द न हों, परन्तु नींद का रोकना आसान नहीं। आखिर हंसकर बोले, "भाई साहब ! भाभीजी समझती होंगी, शरबत पिलाकर छुटकारा हो गया ; मगर मैं तो सायंकाल से पहले न टलूंगा। बुरी तरह नींद आ रही है।"

जमना—(हंसकर धीरे से) यह कोई सराय समझी है ? यहां मुफ्त सोने की आज्ञा नहीं।

चन्दू०—लो, सुन लिया तुमने ? यह घर है, सराय नहीं।

द्वारका०—चुप रहो जी, तुम बीच में बोलनेवाले कौन हो ! देवर-भाभी का महायुद्ध है (ऊंची आवाज़ से) हां भाभी ! मैं मुफ्त न रहूंगा, किराया दूंगा। मगर पहले तय कर लो, कहीं बाद में झगड़ा न हो जाए।

चन्दू०—चलो, हमें कोई पूछता ही नहीं।

द्वारका०—बोलो भाभी ! क्या किराया देना होगा ?

जमना—(पति से) इनसे कहो, रात को रोटी यहीं खानी होगी।

द्वारका०—यह किराया बहुत ज़्यादा है, कम कीजिए।

चन्दू०—(स्त्री से) कहते हैं ज़्यादा है, कम कीजिए। कुछ है गुंजाइश ?

जमना ने सिर के इशारे से कहा, "नहीं।"

द्वारका०—खैर, मुझे स्वीकार है।

चन्दू०—अगर ऐसे-ऐसे दो-चार सौदे रोज़ हो जाया करें, तब तो मेरा दिवाला निकलने में देर नहीं।

द्वारका०—क्या कहा आपने ! वर्फ में सर्द किए हुए आम, पुलाव और सरदा भी खाना होगा। चलो भाई ! आज जो कुछ होना है, हो जाए ! यह भी सही।

चन्दू०—कान बजते हैं श्रीमानजी के ?

द्वारका०—(जान-बूझकर) मलाई भी होगी ? यह तो सरासर ज्यादती है मेरे साथ। परन्तु जब ओखली में सिर दिया तो मूसल का क्या डर !

चन्दूलाल और जमना, दोनों हंसने लगे। मगर द्वारकादास के मुंह पर हंसी न थी। थोड़ी देर के बाद छत की तरफ देखकर बोले, "पंखा तो बहुत बांका है, देखकर चित्त प्रसन्न हो गया। क्या यहां कोई पंखाकुली मिल जाएगा ? अगर हो तो बुला लो, नहीं नींद न आएगी।"

जमना ने मुस्कराकर कहा, "इसका किराया जुदा देना होगा।"

द्वारका०—हमारी भाभी बड़े सूम-स्वभाव की हैं ; ज़रा रू-रियायत नहीं करतीं। मुझे तो डर लगने लगा। मगर इसके सिवा गुज़ारा न होगा। (चन्दू से) यार, कोई कुली बुलाओ।

चन्दू०—होश करो। यहां कुली कहां ?

द्वारका०—सच कह रहे हो ?

चन्दू०—(व्यंग्य से) जी नहीं, झूठ बोल रहा हूं।

द्वारका०—तो नींद आ चुकी।

इस समय द्वारकादास के मुंह पर परेशानी थी, आंखों में निराशा। चारों तरफ देखते थे कि कहीं हंसी तो नहीं कर रहे। शहर का रहनेवाला गांव में फंसा था और अपनी बेबसी पर सटपटाता था, जैसे पहाड़ का रहनेवाला गर्म देश में आकर घबरा जाता है। उस समय उसके मन में कैसे-कैसे विचार आते हैं ! अपनी जन्मभूमि और उसके सुन्दर-सुहावने दृश्य आंखों-तले फिर जाते हैं। यही दशा द्वारकादास की थी। उनको शहर याद आ गया, यहां आराम पैसों के वज़न बिकता है। इस समय वह रोज़ सोया करते थे। क्या आज भी सोएंगे ? उन्होंने ठण्डी सांस भरी।

जमना ने अपने पति की ओर देखकर कहा, "संभव है, कोई आदमी मिल जाए। इनको तो नींद न आएगी।"

चन्दूलाल आदमी देखने बाहर चले; मगर कोई ऐसा आदमी न मिला। यह गांव था, शहर नहीं। गांव के लोग गरीब होते हैं, परन्तु लोभी नहीं। वे साधारण काम-काज करने से नहीं घबराते, न उनको इस पैसे से संकोच ही होता है। मगर पैसे लेकर टहल-सेवा करना वे मौत से भी बढ़कर समझते हैं, वैसे हल चलाने को दिन-भर तैयार रहेंगे। लेकिन शहर का बच्चा-बच्चा लोभी है। वहां ऐसे आदमी पग-पग पर मिल जाएंगे। चन्दूलाल ने बहुत ढूंढ़ा, परन्तु उन्हें कुली न मिला। मेहनती सभी थे, मज़दूर एक भी न था। निराश होकर चन्दूलाल वापस आए। जमना दरवाज़े पर खड़ी थी। धीरे से बोली, "कोई आदमी मिला?"

"नहीं।"

"मुझे पहले ही आशा न थी।"

"बड़ी लज्जा की बात है, उन्हें नींद न आएगी।"

"पर किया क्या जाए?"

"कहेंगे एक दिन के लिए जा निकले थे, पंखे का प्रबन्ध न हो सका।"

"यहां किसान लोग बसते हैं, मज़दूर नहीं।"

"तो तुम्हीं किसीको पकड़ लाओ, मैं तुम्हें रोकता थोड़ा ही हूं।"

जमना ने कुछ देर सोचा। सहसा उसे एक रास्ता सूझ गया। मुस्कराकर बोली, "तो आप जाइए, मैं प्रबन्ध किए देती हूं।"

चन्दू कुछ न समझ सके, सिर झुकाकर अन्दर चले गए।

३

थोड़ी देर बाद पंखा चलने लगा। द्वारकादास ऐसे प्रसन्न हुए, जैसे किसीका रोग कट जाए। चन्दूलाल से हंस-हंसकर बातें करने लगे। चन्दूलाल सोचते थे, लाज रह गई। नहीं तो इन्हें मुंह दिखाने लायक न रहता। वे

मन ही मन जमना की प्रशंसा कर रहे थे—कैसी समझदार स्त्री है। कोई मूर्खा होती तो सीधे मुंह बात न करती। कहती, तुम्हारा दोस्त आया है, तो मैं क्या करूं, मुझसे बाहर नहीं निकला जाता। परन्तु उसके चेहरे पर कैसा विषाद था, आंखों में कैसी उद्विग्नता थी ! मालूम होता था, वह इसे अपना अपमान समझती है। मर्द मिलता न था, किसी स्त्री को पकड़ लाई होगी। यह स्त्री नहीं, देवी है।

द्वारकादास ने कहा, "कहो, अब यह आदमी कैसे मिल गया ?"

चन्दूलाल—तुम्हारी भाभी ढूंढ़ लाई है। मैं तो हारकर वापस चला आया था।

द्वारकादास—तो मालूम हुआ, तुम निरे मिट्टी के लोंदे ही हो। जो काम तुमसे न हो सका, वह उन्होंने कर दिखाया।

चन्दूलाल—इसमें क्या शक है ! मैं आप हार मानता हूं।

द्वारकादास—ऐसी ही देवियां होती हैं, जिन्हें घर की लक्ष्मी कहते हैं।

चन्दूलाल—यह न कहो तो रात को खाना कैसे मिले !

द्वारकादास—मगर वे आप किधर चली गईं ?

चन्दूलाल—इसी कोठरी में होंगी।

द्वारकादास ने चारों तरफ देखा। हर चीज साफ थी, और अपने ठिकाने रखी थी। ये चीजें बहुत मूल्यवान न थीं, परन्तु उनकी सफाई देखकर दिल खुश हो जाता था, कहीं भी गर्दा, जाला या दाग दिखाई न देता था। फर्श, दीवारें, छत—सब ऐसे चमकते थे जैसे शीशा। द्वारकादास सन्नाटे में आ गए। यह मकान न था, किसी योगी का दिल था। वही सादगी थी, वही पवित्रता। वही तपस्या थी, वही शान्ति। यहां दुनियादारों के ठाट-बाट न थे, योगियों का आत्मसंयम था। वही त्याग, वही सन्तोष। यहां गैस-बिजली के लैम्प न जलते थे, परन्तु सच्चे प्रेम का प्रकाश चारों तरफ फैला हुआ था। द्वारकादास ने इन भाग्यवानों को मन ही मन नमस्कार किया। सोकर उठे, तो पांच बज चुके

थे। मगर चन्दूलाल अभी तक सोते थे। द्वारकादास बाहर निकले। वे चाहते थे कि चन्दूलाल के जागने से पहले ही पंखा-कुली को मज़दूरी देकर भेज दें। उन्हें भय था कि अगर चन्दूलाल उठे, तो वे ये पैसे उन्हें कभी न देने देंगे। द्वारकादास को यह स्वीकार न था। चन्दूलाल उनके मित्र थे। ऐसे खरे प्रेमी, सरलहृदय आदमी दुनिया में किसीने कम देखे होंगे। वे अमीर न थे, उनकी आय बहुत थोड़ी थी, परन्तु आत्मसम्मान की दौलत से वे मालामाल थे। लाला द्वारकादास उनके इन दैवी गुण पर लट्टू थे। सोचा, मैंने उनके सामने पैसे दिए, तो बुरा मानेंगे। आश्चर्य नहीं, इसे अपना अपमान समझें। यह बात उनके लिए असह्य थी।

परन्तु बाहर आए, तो उनका दिल बैठ गया, जैसे किसीने ऊंचे मकान से गिरा दिया हो। बाहर आंगन की खुली धूप में दो चारपाइयां खड़ी करके जमना अपने हाथों से पंखा खींच रही थी। वह नीच जाति की औरत न थी, दिन-रात परिश्रम करनेवाली जाटिनी न थी। उसने ऐसा काम-काज आज से पहले कभी न किया था। मगर आज ढाई घंटों से वह बराबर रस्सी खींच रही थी। कोमल हाथ थक गए थे, फिर भी खींच रही थी। सारी देह पसीने से भीग गई थी, फिर भी खींच रही थी। ऐसी लगन से किसी भक्त ने अपने उपास्य-देव को भी कम रिझाया होगा, और यह परिश्रम, यह तपस्या केवल इसलिए थी कि उसके पति का मित्र आराम की नींद सो सके। उसे अपने पति का कितना ख्याल है, उनकी मान-मर्यादा की कितनी परवाह है! द्वारकादास की आंखों में आंसू आ गए। उन्होंने पहले घर देखा था, अब गृहिणी के दर्शन किए। घर पवित्र था; परन्तु गृहिणी की पवित्रता के सामने उसकी पवित्रता कैसी थोड़ी, कैसी तुच्छ थी। यह श्रद्धा, यह भावना, यह सरलता देखकर उनका दिल दहल गया। इस स्वार्थपूर्ण संसार में ऐसी देवियां भी हैं, उन्हें यह ख्याल न था। उनके पैर रुक गए, जैसे किसीने उनमें बेड़ियां डाल दी हों। ये बेड़ियां, लोहे की या पीतल की न थीं, भक्ति और प्रेम की थीं।

द्वारकादास आगे न बढ़ सके। उन्हें देखकर जमना का गौरव मिट्टी में मिल जाता। मनुष्य दुश्मन का सुदृढ़ गढ़ तोड़ सकता है, मगर अबोध बालक का मिट्टी का घरोंदा तोड़ने की शक्ति किसमें है! द्वारकादास वापस चले आए।

देखकर मक्खी नहीं निगली जाती। द्वारकादास ने आते ही चन्दूलाल को जगा दिया और बातें करने लगे। अभिप्राय यह था कि जमना समझ जाए कि जग पड़े हैं। अब उन्हें जमना का पंखा खींचना एक क्षण के लिए भी सह्य न था।

जमना ने आवाज़ सुनी, पंखा छोड़ दिया और अन्दर चली आई। इसके बाद हाथ-मुंह धोकर, सिर का दुपट्टा ठीक करके उस कमरे में आ गई, जहां दोनों मित्र बैठे बातें कर रहे थे। इस समय जमना के मुख-मण्डल पर स्वर्गीय आभा थी। मगर चन्दूलाल और द्वारकादास की आंखें ऊपर न उठती थीं। वे अपनी दृष्टि में आप ही गिरे हुए थे, जैसे उनसे कोई पाप हो गया हो। तीनों के दिलों में विचार अलग-अलग थे, मगर भाव एक ही। जैसे त्रिवेणी में तीन नदियां अलग-अलग रास्तों से आकर एक हो जाती हैं।

४

शाम को द्वारकादास चलने लगे, तो उनकी आंखें सजल हो गईं। वे अमीर आदमी थे। उन्होंने शानदार जलसे देखे थे। बढ़िया और स्वादिष्ट खाने खाए थे। मगर जो रस, जो स्वाद इस देहाती खाने में था, वह इससे पहले कभी उन्हें प्राप्त नहीं हुआ था। यह चटपटी चीज़ों का भोजन था, बनावट का नहीं। यह विशुद्ध और विलक्षण प्रेम का भोज था। लेमोनेड और लाइमजूस में गैस की तेज़ी जरूर है, मगर उनमें सन्दल और केवड़े की ठण्डक कहां! उनमें स्वाद है, मगर प्यास भड़क उठती है। इनमें सादगी है, परन्तु हृदय को शान्ति मिल जाती है।

चलते समय द्वारकादास ने कहा, "भाई! सच कहता हूं, आज का

दिन मुझे कभी न भूलेगा। तांगे का टूटना शुभ हो गया, वरना यह खाना कभी न मिलता।"

चन्दू०—भीलनी के घर भगवान आ गए थे। अब बेरों की प्रशंसा हो रही है।

द्वारका०—मुझे शर्मिन्दा न करो। जो लज़्ज़त इस खाने में थी, वह मां की रोटियों के बाद मुझे और कहीं नहीं मिली।

चन्दू०—(हंसकर) स्त्री की रोटियों में भी नहीं?

द्वारका०—नहीं, वहां भी नहीं।

चन्दू०—झूठ बोल रहे हो। तुम्हारी यह उक्ति कैसे मान लूं?

द्वारका०—प्यारी स्त्री का प्यार दुनिया में बहुत उच्च वस्तु है, परन्तु स्नेहमयी बहिन की प्रीति उससे भी उच्च है। वह अगर चाय है, तो यह मीठा दूध। चाय और दूध की तुलना किसने की है?

चन्दू०—(व्यंग्य के भाव से) तुम तो चाय के बिना रह न सकते थे। यह काया-पलट कब से?

द्वारका०—दूध देखा न था। आज आखें खुल गईं।

चन्दू०—परन्तु यह तुम्हारी भाभी है, बहिन नहीं।

द्वारका०—मैं इन्हें अब भाभी न कहूंगा। भाभी का संसारी नाता है, बहिन का नाता धर्म का है। यह पवित्रता, प्रेम, बलिदान का नाता है। मेरे दो भाई हैं, बहिन कोई नहीं। मैंने अपने इस दुर्भाग्य पर प्रायः घंटों आंसू बहाए हैं। आज इस गांव में आकर मुझे बहिन मिल गई। मिट्टी के टुकड़ों में हीरे की कनी छिपी होगी, यह ज्ञान न था। अब यह गांव मेरे लिए देहात नहीं, तीर्थराज है।

चन्दूलाल और जमना दोनों इस प्रेमपूर्ण भाषण को इस तरह सुन रहे थे, जैसे कोई तत्त्ववेत्ता उनके सामने किसी गूढ़ रहस्य का बखान कर रहा हो। दोनों के मुंह में ज़बानें थीं, परन्तु उनमें वाणी न थी। दोनों चुपचाप खड़े सुन रहे थे कि द्वारकादास ने आगे बढ़कर जमना का घूंघट उलट दिया और कहा, "तुम्हें अब मुझसे परदा करने की आवश्यकता नहीं। मैं तुम्हारा

भाई हूं।"

चन्दूलाल मुस्कराने लगे; मगर जमना के चेहरे पर हंसी न थी। उसके चेहरे पर वे भाव थे, जो हरएक धार्मिक यज्ञ के अवसर पर आर्यललनाओं के चेहरे पर प्रकट होते हैं। हम पुरुष लोग धर्म के साथ हंसी कर सकते हैं; परन्तु हमारी देवियां ऐसी पतित कभी नहीं हुई। जमना ने बहिन की आंखों से, जिनमें अमर प्रेम का कभी समाप्त न होनेवाला सोता फूट रहा था, अपने धर्म-भाई की तरफ देखा और आंखों ही आंखों में कहा, भाई-बहिन बनना आसान है; परन्तु इस धर्म-सूत्र का निभाना बड़ा कठिन है।

द्वारकादास ने इस मौन-संदेश का उत्तर न दिया, केवल गरदन ऊंची उठाई। जमना को उत्तर मिल गया। यह उत्तर कितना आशापूर्ण था, कितना प्रकाशमय! जमना का हृदय आनन्द-सागर में हिलोरें मारने लगा। उनके भी कोई भाई न था। आज यह अभाव पूरा हो गया।

५

इस समय द्वारकादास ऐसे खुश थे, जैसे किसी गरीब को हीरा मिल जाए। उनके पांव भूमि पर न पड़ते थे। उन्होंने एक सती-साध्वी का पावन प्रेम जीत लिया था। चारों तरफ रात का अंधेरा छाया हुआ था, मगर उनकी आंखों के सामने वही स्वर्गीय आभा थी—वही सुन्दर झोंपड़ा, वही खुला आंगन, वह प्रेम-भरी मुस्कराहट और निस्वार्थ सहानुभूति के रस में डूबी हुई मधुर बातें। ज्यों-ज्यों स्यालकोट के पास पहुंचते जाते थे, उनका दिल उदास होता जाता था, जैसे जवान लड़का अपनी प्यारी मां से पहली बार बिछुड़ा हो। यहां तक कि शहर के बिलकुल पास पहुंचकर उनके पैर रुक गए, आंखों में आंसू आ गए। जमना किस तरह पंखा खींचती थी! कैसे बहिनों के से आदर से! उस समय वह इस मर्त्य-लोक की रहनेवाली नहीं, स्वर्ग की देवी मालूम होती थी। मैं उसका कौन था? कोई भी नहीं! मेरा उसके साथ कोई सम्बन्ध, नाता-रिश्ता न था। परन्तु फिर भी उसने मेरे

दो घड़ी के आराम के लिए अपने कोमल हाथों से पूरे ढाई घंटे तक पंखा खींचा, और वह भी धूप में बैठकर। यह स्वार्थरहित प्रेम का भार कब उतरेगा ? किस तरह ?

विचार-तरंग यहीं तक पहुंचने पाई थी कि उनका घर आ गया। परन्तु वे उन विचारों को नहीं छोड़ना चाहते थे, मानो यह घटना साधारण घटना न थी, ज्ञान और शक्ति से भरी हुई मनोरंजक कहानी थी।

रात को उन्होंने खाना न खाया तो तारा (पत्नी) ने पूछा, "क्या कुछ तकलीफ है ?"

द्वारका०—नहीं, ज़रा मुरादपुर चला गया था, चन्दूलाल ने खिला दिया।

तारा—आज कुछ उदास मालूम होते हो ?

द्वारका०—आज तो मैं बहुत खुश हूं।

तारा—रुपया मिल गया होगा !

द्वारका०—आज जो वस्तु मिली है, वह रुपये से भी बढ़कर है।

तारा—वह क्या ?

द्वारका०—समझ जाओ।

तारा—मुझमें यह बुद्धि कहां !

द्वारकादास तारा की प्रकृति से अपरिचित न थे। वे जानते थे कि तारा इस बात से कभी प्रसन्न न होगी। मगर वे चुप न रह सके। हम खुशी की बात छिपाकर नहीं रख सकते। दुःख काला पत्थर है, जो पानी में पड़कर आंखों से ओझल हो जाता है, परन्तु खुशी वह चमकदार शीशा है जो गहराई में भी चमकता है। इस जीवन-ज्योति को दिल के तहखाने में किसने छिपाया है ! द्वारकादास ने सारी कथा तारा से कह डाली।

तारा ने यह कथा सुनी, मगर ठीक उसी तरह, जैसे कोई सूम-साहूकार किसी मेहमान का आना सुने और झल्ला उठे। उसपर थोड़ी

देर विचार किया और तब धीरे से कहा, "चलो, दिन त्यौहार पर चार पैसे की चीज भेज देना। गरीब आदमी हैं, खुश हो जाएंगे।

द्वारकादास—तुम्हारा अनुमान गलत है। वे गरीब हैं, पर उनका दिल गरीब नहीं।

तारा—तो सारा घर उठाकर दे दीजिए। मैं अगर हाथ पकड़ूं तो जो चोर की सजा वह मेरी।

द्वारका०—तुम कैसी वाहियात बातें करती हो!

तारा—अभी गालियां मिलती हैं, वे महारानी दो-चार बार यहां आ गईं तो धक्के मिलेंगे। मगर मैं उसे अपने मकान में पैर भी न रखने दूंगी।

द्वारकादास का चेहरा लाल हो गया। तमककर बोले, "वह यहां जरूर आएगी, तुमको जो कुछ करना हो कर लो।"

तारा—तो यह क्यों नहीं कहते कि नई दुलहिन से मन मिला है! पर एक बात कहे देती हूं। मैं उन स्त्रियों में से नहीं हूं जो अपना घर सामने लुटता हुआ देखती हैं और मन मारकर रह जाती हैं। मैं उसका पेट चीर दूंगी।

क्या सोचा था, क्या हो गया! द्वारकादास स्वभाव से ही अत्यन्त सहनशील थे; परन्तु इस दोषारोपण से उनके जैसे आग लग गई। चन्दन भी रगड़ा जाए, तो उससे आग निकलती है। गरजकर बोले, "खबरदार! संभलकर बोलो। यही शब्द दुबारा कहे तो मुंह से जीभ खींच लूंगा।"

तारा को विश्वास हो गया कि पतिदेव हाथ से गए। थोड़ी देर चित्रवत बैठी रही। इसके बाद ठंडी सांस भरकर बोली, "मगर वह तुम्हारी कौन है, जिसके कारण घर में यह महाभारत शुरू कर रहे हो?"

द्वारका०—वह मेरी बहिन है।

तारा—मां-जाई तो नहीं।

द्वारका०—मगर मुंह-बोली तो है। उसका दर्जा मां-जाई से भी

ऊंचा है। यह धर्म-सूत्र है, वह रक्त का बन्धन है। मैं उसके लिए सब कुछ करने को तैयार हूं।"

तारा बैठी हुई थी, यह सुनकर खड़ी हो गई और चिल्लाकर बोली, "तुम्हारी यह धौंस न चलेगी। मैं भी इसी दुनिया में पली हूं। मुझे तुम्हारा मन साफ नहीं मालूम होता।"

द्वारकादास के क्रोध पर इन शब्दों ने वही काम किया, जो ईंधन आग पर करता है। उनकी आंखों से चिनगारियां निकलने लगीं, मगर उन्होंने मुंह से कुछ न कहा। करवट बदली और ऐसा प्रकट किया कि नींद आ गई है। क्रोध के बाद चुप्पी ज्ञानसूचक, सजीव एवं सशब्द होती है।

अब तारा को अपनी भूल का ज्ञान हुआ। रह-रहकर दिल में पछता रही थी कि मेरे मुंह में आग लग जाए, मुफ्त में कहां का झगड़ा खड़ा कर दिया! जीभ बस में रहती तो बात यहां तक न बढ़ती। उसने धीरे-धीरे आगे बढ़कर द्वारकादास के शरीर पर हाथ फेरकर मधुर स्वर में कहा, "मुझसे बड़ी मूर्खता हो गई। अब माफ कर दो, फिर भूल न होगी।"

ये शब्द नहीं थे, शर्बत के घूंट थे। द्वारकादास का क्रोध जाता रहा। एकाएक इस शर्बत में कड़वापन आ गया, तारा के हृदय-वेधी शब्द याद आ गए। द्वारकादास ने तारा का हाथ परे हटाकर जवाब दिया, "मेरा मन खोटा है, मुझसे माफी कैसी?"

तारा निराश होकर उठ गई और अपनी चारपाई पर जा लेटी। मगर देर तक नींद नहीं आई। द्वारकादास की भी यही दशा थी। दोनों अपने क्रोध पर लज्जित थे। दोनों चाहते थे कि मेल हो जाए, मगर अभिमान ने मुंह पकड़ लिया। इसी तरह रात बीत गई, दोनों उठे, परन्तु रोज की तरह प्रफुल्लित हृदय नहीं, किन्तु मुंह फुलाए हुए। आज द्वारकादास ने न तारा से तौलिया मांगा, न साबुन, न तेल। नौकर से कहकर ये सारी चीजें मंगवा लीं और जल्दी-जल्दी नहा लिया। यह

देखकर तारा उदास हो गई। उसके लिए यह ऐसी सख्त सजा थी जिसके सामने वह मारपीट की भी परवा न करती। मगर उसने मुंह से कुछ न कहा। चुपचाप बैठी एक पुस्तक के चित्र देखती रही। पर उसका मन इन चित्रों में न था। इतने में द्वारकादास ने कपड़े पहने और छड़ी हाथ में लेकर वे दुकान को चले गए। तारा ने सोचा, दोपहर को आएंगे, तब मना लूंगी। वे मेरे स्वामी हैं, कोई बेगाने नहीं। उनसे संकोच कैसा ! मगर द्वारकादास उस दिन घर नहीं आए। रोटी लाने के लिए नौकर को भेज दिया। तारा ने अपने रूठे पति को मनाने के लिए कई अच्छी-अच्छी चीजें पकाई थीं, कई बातें सोची थीं। परन्तु कोई काम न आई। तारा हताश हो गई—क्या अब मेल न होगा ? लड़ाई सभी के यहां होती है, पर ऐसी नहीं कि दिल में मैल आ जाए। फिर भी उसने सारी चीजें थाल में सजाकर रखीं और सफेद तौलिये से ढककर भेज दीं।

यह थाल न था सुलह का सन्देश था। द्वारकादास सब कुछ समझ गए। परन्तु उन्होंने केवल तीन चपातियां खाई, और दाल-भाजी। इसके सिवा और किसी चीज़ को हाथ भी न लगाया। आम-मुरब्बा, खरबूज़ा-अचार आदि सब उसी तरह पड़े रहे। तारा बड़े शौक से खाना खाने बैठी थी। थाल देखकर उसका दिल छोटा हो गया। उसने खाना छोड़ दिया और जाकर पलंग पर लेट गई। सुलह की प्रार्थना स्वीकार नहीं हुई।

इसी तरह तीन-चार दिन बीत गए। दोनों अपनी-अपनी बात पर अड़े रहे। यहां तक कि चौथे दिन द्वारकादास को बुखार चढ़ गया, पता नहीं गर्मी से या आन्तरिक कष्ट से। मगर द्वारकादास को इससे हार्दिक प्रसन्नता हुई, जैसे यह बुखार बुखार नहीं था, उनके विजय की पूर्वसूचना थी। सोचने लगे, अब देखता हूं तारा कैसे तनी रहती है ? कैसे मुंह फुलाए बैठी रहती है ? सुनेगी, तो होश उड़ जाएंगे। दौड़ी हुई आएगी। सारा घमण्ड मिट्टी में मिल जाएगा। हाथ जोड़ेगी, मिन्नतें करेगी।

ऐसा ही हुआ भी। तारा घबरा गई। अब वह कैसे रूठी रहती! उसका पति बीमार है। उसे आन प्यारी थी, पर पति आन से भी प्यारा था। वह उड़ती हुई पति के पास आई और उनकी तरफ ताकने लगी। इस समय उसको ऐसा मालूम हुआ, जैसे द्वारकादास बहुत दुर्बल हो गए हैं। ख्याल आया, यह मेरी करतूत है। वह उनकी चारपाई पर बैठ गई और उनके माथे पर हाथ फेरने लगी। इसके बाद उसने उनका मुंह अपनी तरफ किया और आंखों में आंसू भरकर कहा, "क्या अब यह क्रोध न उतरेगा? मेरी जीभ जल जाए! क्रोध में जो जी में आया बक गई, अब बैठी पछता रही हूं।"

द्वारकादास यह सुनकर अपने को न संभाल सके। उनकी आंखों में भी आंसू आ गए। उन्होंने तारा को गले से लगा लिया और रोने लगे।

६

अमीरों के यहां रोग बढ़ जाए तो डाक्टर आता है, गरीबों के यहां रोग बढ़ जाए तो सम्बन्धी आते हैं। जहां डाक्टर का आना साधारण बात है, वहां सम्बन्धी लोग सहज ही में जमा हो जाते हैं।

द्वारकादास बीमार हुए तो डाक्टर दोनों वक्त आने लगा, मगर रोग कम न हुआ, उलटा बढ़ गया। यहां तक कि तीन दिन गुज़र गए और बुखार न उतरा। द्वारकादास दिन-दिन-भर बेहोश रहने लगे। तारा उनके पास बैठी रोया करती थी। इस रोने से उसके दिल का गुबार निकल जाता था। मगर इस गुबार और द्वारकादास के बुखार में कोई सम्बन्ध न था। उसपर कोई प्रभाव न पड़ा। इसके बाद रोग भयानक हो गया। द्वारकादास बकने-झकने लगे। तारा के दिल में बुरे-बुरे विचार उठे। हम जिन्हें प्यार करते हैं, उनके बारे में हमें प्रायः भयंकर आशंकाएं ही सताती हैं। बेगानों के सम्बन्ध में ऐसे विचार हमारे मन में कभी नहीं आते।

कुछ दिनों के बाद रोग और भी बढ़ गया। अब द्वारकादास किसी-को न पहचानते थे; बेहोशी में बड़बड़ाया करते, कभी कहते—जमना मेरी बहिन है, ऐसी बहिन दुनिया में किसी और की न होगी। मगर मेरी स्त्री को क्या कहा जाए, उसे कुछ और ही सन्देह है। कभी कहते—तारा अब तो प्रसन्न होगी, जमना ने तेरे यहां आने से इन्कार कर दिया है। कभी कहते—मैं जमना को न बुलाऊंगा, तारा अप्रसन्न हो जाएगी।

तारा ये बातें सुनती तो उसके कलेजे में भाले चुभ जाते, आंखें सजल हो जातीं। सोचती, इस रोग का मूल कारण मैं ही हूं। मुझे क्या मालूम था कि मेरी बातें इनके मन को लग जाएंगी। जानती तो होंठ सी लेती। अब उन बातों को कैसे लौटाऊं? वह ज़बान की कठोर थी, पर उसका दिल प्रेम से भरा था, जैसे मीठे और ठंडे जल का सोता सख्त पत्थरों के तले छिपकर बहता है।

दोपहर का समय था, तारा द्वारकादास के पास बैठी चिंता-सागर में गोते खा रही थी। इतने में द्वारकादास ने करवट बदली और बोले "तू कौन है?"

तारा का सिर चकराने लगा। क्या अब यहां तक नौबत आ गई! घबराकर बोली, "मैं तारा हूं।"

द्वारकादास ने उसकी तरफ देखा। मगर इस तरह जैसे कोई पागल हवा की तरफ देखता है, और नहीं समझता कि मैंने क्या देखा। इसके बाद उन्होंने फिर करवट बदली और सो गए।

जिस तरह कुदाल की चोट से चट्टान टुकड़े-टुकड़े हो जाती है और पानी का फव्वारा बाहर आ जाता है, उसी तरह द्वारकादास की नैराश्य-उत्पादक दशा से तारा की कठोरता काफूर हो गई और प्यार का पानी बाहर आ गया। इस जल-धारा के सामने ईंट-पत्थर कब तक ठहर सकते हैं—कितनी देर!

तारा ने उसी समय नौकर को बुलाकर कहा, "गाड़ी लेकर मुरादपुर जा। वहां इनके मित्र चन्दूलाल रहते हैं। उन्हें और उनकी स्त्री जमना को

साथ ले आ। कहना, कई दिन से बेसुध पड़े हैं और 'बहिन-बहिन' पुकार रहे हैं। जब तक तुम न आओगे, अच्छे न होंगे।"

तीन ही मील की दूरी थी, आने-जाने में देर न लगी। चार बजते-बजते चन्दूलाल और जमना दोनों द्वारकादास के यहां आ पहुंचे। तारा ने उनको देखा तो उसकी जान में जान आ गई। उसे विश्वास हो गया कि अब इनके स्वस्थ होने में देर नहीं। एक-आध दिन में उठ खड़े होंगे।

जमना देहाती रमणी थी। उसकी शक्ल-सूरत तारा को पसन्द न आई। मगर उसने इसकी परवा न की। उसके गले लगकर बोली, "देखो तो, क्या हो गया है? दिन-रात तुम्हें बुलाते हैं।"

जमना—तुमने पहले खबर क्यों नहीं दी? अचरज की बात है, भाई इतना बीमार हो और बहिन को खबर तक न भेजी जाए!

तारा—मैंने सोचा था, मुफ्त में कष्ट क्यों दूं।

जमना—मालूम होता है, तुम अभी तक मुझे पराया ही समझती हो?

तारा—पराया कैसे समझ सकती हूं? उनकी बहिन को पराया समझूंगी तो रहूंगी कहां?

जमना—शहर की रहनेवाली बातें करना खूब जानती हैं। मैं अनपढ़ देहातिन तुमसे पार न पा सकूंगी।

तारा—कुछ दिन ठहर जाओ, तुम्हें भी बातें आ जाएंगी। मगर पहले अपने भाई को चारपाई से उठा लो।

जमना—मैं पापिन कौन हूं, परमात्मा उठाएगा।

यह कहते-कहते जमना की आंखों में आंसू आ गए। इस समय तक चन्दूलाल द्वारकादास को झुके हुए देख रहे थे। वह जमना से बोले, "इन्हें कहो, हमें दवा देने का समय आदि समझा दें, और जाकर आराम करें। अब हम आ गए हैं, इन्हें कष्ट न होगा। मालूम होता है, कई रातों से जाग रही हैं। कहीं स्वयं भी बीमार न हो जाएं।"

तारा ने उनको सब कुछ समझा दिया और स्वयं उनके खाने-पीने का प्रबन्ध करने चली। इस समय वह ऐसी खुश थी, जैसे किसीको डूबा हुआ धन मिल गया हो। अब उसे कोई आशंका, कोई चिन्ता न थी, मानो जमना क्या आई, कोई सिविल-सरजन आ गया। मगर द्वारकादास का रोग साधारण न था, तीन महीने चारपाई से नहीं उठे।

इस बीच में जमना ने जिस प्यार, परिश्रम और आत्मसमर्पण का परिचय दिया, उसे देखकर तारा दंग रह गई। उसे खाने-पीने की सुध न थी, विश्राम की इच्छा न थी। कुरसी पर बैठी-बैठी ऊंघ लेती; कहती—सो गई तो दवा देने का समय निकल जाएगा। ऐसी सावधानी से किसी मां ने अपने पुत्र का भी इलाज न किया होगा। तारा का सब सन्देह निर्मूल सिद्ध हुआ। संसारी जीवों की पापमयी वासना में यह स्थिरता, यह भावना, यह श्रद्धा कहां! वह खोटे सोने के समान चमकती तो बहुत है, परन्तु परीक्षा की आग में पड़कर यह चमक स्थिर नहीं रहती। तारा की कूटनीति ने जिसे पीतल समझा था, वह खरा सोना निकला। तारा ने शान्ति की सांस ली।

७

द्वारकादास स्वस्थ हो गए। तारा, जमना और चन्दूलाल ऐसे खुश थे, जैसे विद्यार्थी परीक्षा में पास होकर खुश होता है। उनकी चेष्टाएं सफल हो गई थीं। उन्होंने मरता हुआ रोगी बचा लिया था। अब उनके होंठों पर हंसी थी, आंखों में ज्योति। चारों तरफ चहकते फिरते थे, जैसे पक्षी फूलों की डालियों पर चहकते हैं। अब यह घर किसी रोगी का कमरा न था जहां ऊंची आवाज से बोलना बुरा समझा जाए, वरन् ब्याहवाला घर था जहां आठों पहर चहल-पहल रहती है। सब द्वारकादास की चारपाई के गिर्द कुरसियां डालकर बैठ जाते और ताश उड़ाते। पहले तारा चन्दूलाल को देखती तो दौड़कर छिप जाती थी, मगर अब वह परदा न रहा और जमना ने तो उसके दिल में घर ही कर लिया था। वह

छाया के समान उसके साथ रहती और कहती—तू चली जाएगी तो मैं क्या करूंगी ?—जमना उत्तर देती—अपने बलमू से प्यार करेगी और क्या करेगी !—इसके जवाब में तारा का मुंह बन्द हो जाता। इसी तरह कुछ दिन और बीत गए। अब द्वारकादास चलने-फिरने के योग्य थे। शरीर में बल आ गया, चेहरे पर लाली। चन्दूलाल और जमना चलने की तैयारियां करने लगे। तारा ने यह सुना तो घबरा गई। जमना के गुणों ने उसका मन मुग्ध कर लिया था। रात को वह पति से बोली, "जमना जाने को कहती है।"

द्वारका०—ठीक कहती है। तीन महीने हो गए, अब कब तक बैठे रहें ? छुट्टी दे दो।

तारा—पर मेरा दिल कैसे मानेगा ?

द्वारका०—उसे मैं मना लूंगा।

तारा लजा गई, बोली, "आप तो छेड़ते हैं।"

द्वारका०—नहीं तारा ! मैं हंसी नहीं करता। तुम आप ही सोचो, पराये घर में कब तक बैठे रहें !

तारा—यह घर उनका अपना है, पराया नहीं। मैं जमना को अपनी ननद समझती हूं।

द्वारकादास के रोम-रोम में खुशी की लहर दौड़ गई। साहस से बोले, "बहिनों को भी अपनी ससुराल जाना ही पड़ता है। अपने घर में राज-कुमारियां भी नहीं रहतीं।"

तारा—ससुराल भेजना चाहते हो तो फिर उसी ढंग से भेजो।

द्वारकादास चौंक पड़े। थोड़ी देर बाद बोले, "तारा, तुम्हारा मतलब क्या है ?"

तारा—इस समय सस्ते न छूटोगे। तुमने उसे बहिन बनाया है। वह तुम्हारे यहां पहली बार आई है। यों समझो कि उसका गौना है। चार पैसे दिए बिना भेज दोगे तो वह अपने मन में क्या कहेगी ?

द्वारकादास को ऐसा मालूम हुआ, जैसे आंखों से परदा हट गया हो।

उन्हें आज पहली बार ज्ञान हुआ कि उन्होंने तारा को पहचानने में कैसी भूल की थी। उनका ख्याल था कि तारा संकुचित हृदय, भावरहित, सूम एवं प्रेमविहीना स्त्री है। मगर आज वही स्त्री कैसी विशालहृदया, स्नेहमयी और साहसवती प्रतीत होती थी ! उसके एक-एक शब्द में प्रेम की सुगन्ध थी, उसे आन की परवा थी, पैसे की परवा न थी। पर द्वारकादास अधीर नहीं हो गए, न उन्होंने अपने हार्दिक भावों को प्रकट किया। धीरे से बोले, "बहुत खर्च करना पड़ेगा !"

तारा—परन्तु इसके बिना काम भी नहीं चलेगा।

द्वारका०—जानती हो, आजकल कारबार का हाल भी सन्तोषजनक नहीं है।

तारा—रोटी तो खाते हैं।

द्वारका०—चुप हो रहें, तो कैसा हो ?

तारा—नाक कट जाएगी। गांव-भर में सब जानते हैं कि जमना अपने भाई के यहां आई है। जब खाली हाथ देखेंगे, तो क्या कहेंगे ? वही कि बस, इसी हौंसले पर भाई बने थे ? इन बाग्बाणों से जमना के दिल पर क्या गुज़रेगी ? सुनकर रोने लगेगी।

द्वारकादास जाल बिछाते जाते थे और तारा भोले कबूतर के समान उसमें फंसती जाती थी। उन्होंने किसी असहाय की तरह सिर हिलाया और कहा, "तारा ! बुरे फंसे।"

तारा—अब तो कुछ करना ही पड़ेगा।

द्वारका०—तुम्हारी सम्मति में कुछ देना चाहिए, चालीस-पचास रुपये दे दें ?

तारा—ज़रा अपनी हैसियत देख लो। लोग कहेंगे—नाम बड़े और दर्शन छोटे।

द्वारका०—तोबा ! अब न बोलूंगा। तुम जो चाहो, दे दो। केवल मैं ही भाई नहीं हूं, तुम भी भाभी हो।

यह सुनकर तारा को ऐसा मालूम हुआ जैसे किसीने राजसिंहासन पर

चढ़ा दिया हो। कुछ सोचकर बोली, "कम से कम दो-तीन आभूषण होंगे, ढाई-तीन सौ रुपये के।"

द्वारका०—और ?

तारा—सात जोड़े रेशमी, इक्कीस जोड़े सूती।

द्वारका—राम-राम !

तारा—कुछ बर्तन भी होंगे।

द्वारका०—तुम मेरा दिवाला निकलवा दोगी।

तारा—चन्दूलाल के कपड़े अलग रहे। वह आप बनवा दें, मैं उसमें दखल न दूंगी।

द्वारका०—तो कुछ दिन और रोक लो, यह सब कुछ एक-आध दिन में तैयार न होगा।

तारा—इसकी चिन्ता न करें। जमना की इतनी मजाल नहीं कि मुझसे पूछे बिना चली जाए।

एक सप्ताह और बीत गया।

आज चन्दूलाल और जमना के चलने का दिन है। सबकी आंखों में वियोग के आंसू भरे हुए हैं। जमना तो फूट-फूटकर रो रही है, जैसे लड़की व्याह के बाद जाते समय रोती है।

चन्दूलाल कभी उन चीज़ों को देखते, कभी द्वारकादास को। वे हैरान हो रहे थे। पड़ोसी कहते, द्वारकादास को शाबास है। कलजुग में लोग इतना अपनी सगी बहिनों को भी नहीं देते।

इतने में तांगा दरवाज़े पर आ गया। जमना तारा के गले से लिपटकर रोने लगी। इस रोने में कितनी वेदना थी, कितनी व्यथा, उसे कोई बहिन ही समझ सकती है। तारा के दिल में भाव-सागर उमड़ा हुआ था। वह सोचती—यह वही स्त्री है जिसने मेरे स्वामी की सेवा की है, उनको मौत के मुँह से खींचा है; जिसे मेरा पति अपनी बहिन समझता है, चाहता है, प्यार करता है। आज वह बिछुड़ रही है।

जमना की निष्काम सेवा ने पहले द्वारकादास को वशीभूत किया था, अब तारा भी उसका दम भरने लगी। यह सब प्रेम का चमत्कार है, इसी स्वर्गीय शक्ति का जादू है। इसमें पड़कर राक्षस भी देवता बन जाते हैं। तारा तो फिर भी संसारी स्त्री थी।

तारा से मिलकर जमना द्वारकादास के गले मिली और फिर फूट-फूटकर रोई। द्वारकादास भी रो रहे थे। आखिर उन्होंने बड़े आग्रह से चुप कराया और कहा, "तो अब गाड़ी में बैठ जाओ, विलम्ब हो रहा है।"

जमना ने दुपट्टे के आंचल से आंसू पोंछते हुए कहा, "मगर यह तुमने बहुत तकलीफ की। इसकी कोई जरूरत न थी।"

द्वारका०—परमात्मा करे, हम सदा इसी तरह करते रहें।

जमना—देखो भाई! मैं तुमसे मन की बात कहती हूं। मैं पैसे की नहीं, प्यार की भूखी हूं। मुझे पैसा दो या न दो, मगर कभी-कभी मिलते रहना। यह तुम्हारी बहिन का अनुरोध है।

द्वारका०—जो अपनी बहिन को भूल जाए, उसका कहां भला होगा!

जमना—पर यह ऋण तो मुझसे न उतरेगा।

द्वारका०—यह ऋण नहीं, मेरे धर्म-सूत्र की पूर्ति है। तुम्हारी सेवा-सत्कार का बदला देना मेरी शक्ति के बाहर है।

तारा ने मुस्कराकर कहा, "जंगल की मैना को शहर का पाना लग गया, अब भी न बोले!"

जमना ने हंसकर तारा की तरफ देखा, मगर प्रेम के इस सुखद कटाक्ष का जवाब न दिया। द्वारकादास को लक्ष्य करके बोली, "जिसने अपने बीमार भाई की सेवा न की, वह बहिन कहाने योग्य नहीं।"

द्वारका०—मुरादपुर का खाना कभी न भूलेगा।

जमना—क्या बातें करते हो, वह तो विदुर का शाक था।

द्वारका०—और वह पंखा?

जमना चौंक पड़ी। उसे ऐसा मालूम हुआ जैसे कोई गुप्त रहस्य प्रकट हो गया हो। प्रकाशपूर्ण लज्जा ने चेहरा लाल कर दिया। उसने केवल 'अरे' कहा, और इससे अधिक कुछ न कह सकी। द्वारकादास और तारा दोनों हंसने लगे।

जमना ने तारा से कहा, "तुमने मुझे बड़ा धोखा दिया है। इस बात का एक बार भी जिक्र नहीं किया। किया होता तो मैं सावधान हो जाती।"

तारा—मुझे तुम्हारे भाई ने मना कर दिया था। मैं समझती न थी। इसमें छिपाने की क्या बात है? मगर इस समय मजा आ गया, वरना तुम्हारा मुंह बन्द न होता।

तांगा चलने लगा।

परिवर्तन

किसी नगर में एक बेपरवा, अभिमानी नवयुवक रहता था। उसका नाम सईद था।

वह बड़ा ही सुन्दर था—उसका रंग गोरा था, चेहरा-मोहरा भी अच्छा था और आंखों में मोहनी थी।

परन्तु वह मूर्ख था।

२

जब वह बाज़ार जाता था तो रास्ते में एक बूढ़े फकीर को देखकर हंसा करता था।

उसकी कमर झुक गई थी, उसके सिर के, दाढ़ी के और मूंछों के बाल सफेद हो चुके थे और आंखों में यौवन की चमक के स्थान में बुढ़ापे की उदासीनता थी।

वह बूढ़ा था।

और सईद उसे देखकर हंसा करता था।

३

एक दिन सईद ने स्वप्न में देखा कि वह बूढ़ा हो गया है और उसकी कमर झुक गई है। उसके सिर के, दाढ़ी के और मूंछों के बाल सफेद हो चुके हैं और आंखों में यौवन की ज्योति के स्थान में बुढ़ापे की उदासीनता

आ गई है।

जब वह जागा तो अपने स्वप्न पर देर तक हंसता रहा।

परन्तु बाज़ार जाते समय सहसा उसने बूढ़े फकीर के निस्तेज मुख के दर्पण में अपनी जवानी की छाया देखी और उसे पहचानने में देर न लगी।

और सईद वहां रुक गया और उस फकीर को देखकर उसके होंठों की हंसी होंठों पर मर गई।

४

किसी नगर में एक युवक रहता है।

उसका नाम सईद है।

वह बड़ा ही सुन्दर है—उसका रंग गोरा है। चेहरा-मोहरा भी अच्छा है और आंखों में मोहनी है।

परन्तु अब वह मूर्ख नहीं रहा, न वह किसी बूढ़े को देखकर हंसता है।

अमर जीवन

बाबू इन्द्रनाथ की लेखनी में जादू था। जब लिखने बैठते, साहित्य-सुधा की धाराएं वह निकलतीं, जैसे पहाड़ों से मीठे जल की नदियां फूट निकलती हैं। उनकी अवस्था अधिक न थी। ज़्यादा से ज़्यादा पच्चीस साल के होंगे। मगर उनकी कविता और कल्पना देखकर जी खुश हो जाता था। साधारण से साधारण विषय भी लेते तो उसमें जान डाल देते। उनके निबन्ध पढ़कर लोग मन्त्रमुग्ध हो जाते थे। कहते—मन मोह लेता है। उनकी उपमाएं कैसी सुन्दर हैं, शब्द कैसे मधुर हैं! पाठक किसी दिव्यलोक में पहुंच जाते हैं। यही जी चाहता है, पढ़ते ही रहें, कभी बस न करें।—उनकी रचना में मनोरंजन, सौन्दर्य, मोहनी सब कुछ था, और सबसे बढ़कर सादगी थी। वे अपने पाठकों पर बड़े-बड़े कठिन शब्दों से रोब न डालते थे। यह ढंग उन्हें कभी पसन्द न आता था। उन्हें जो कुछ कहना होता, सादे और सरल शब्दों में कह देते, और यही उनका सबसे बड़ा गुण था। एक वर्ष पहले लोग उनके नाम से भी परिचित न थे, और आज हिन्दी साहित्य के कोने-कोने में उनके नाम का डंका बजता है। कोई छोटे से छोटा भी ग्राम ऐसा न होगा जिसमें 'भाव-सुषमा' और 'सोम-सागर' की एक-दो प्रतियां न हों। इन ग्रंथ-रत्नों को जो पढ़ता, उसीपर जादू हो जाता था।

परन्तु इन्द्रनाथ की आर्थिक दशा सन्तोषजनक न थी। इतनी सिर-पच्ची करने के बाद भी उनको इतनी आय न होती थी कि चिन्तारहित

जीवन बिता सकते। प्रायः दुःखी रहते और अपने देश की शोचनीय अवस्था पर रोया करते। किसे ख्याल था कि उनके प्रान्त का सबसे बड़ा लेखक, सबसे प्यारा कविराज, पैसे-पैसे को मुहताज होगा ! उनका प्रकाशक कमाता था, वे भूखों मरते थे। संसार का यह दुर्व्यवहार देखकर उनका दिल खट्टा हो जाता और कभी-कभी तो इतने जोश में आ जाते कि लिखे-लिखाए लेख फाड़ डालते, लेखनी तोड़ देते और कहते, "अब लिखने का कभी नाम भी न लूंगा।"

२

प्रातःकाल था। इन्द्रनाथ धूप में बैठे एक मासिक पत्रिका के पन्ने उलटते हुए मुस्करा रहे थे। उनकी स्त्री मनोरमा ने पूछा, "क्यों ? क्या है, जो इतने खुश हो रहे हो ?"

इन्द्रनाथ ने मनोरमा की तरफ प्रेमपूर्ण दृष्टि से देखा और उत्तर दिया, "भाव-सुषमा की समालोचना है। बहुत प्रशंसा की है।"

मनोरमा के मन में उद्‌गार की गुदगुदी होने लगी। ज़रा आगे खिसककर बोली, "प्रशंसा करते हैं, समझते खाक भी नहीं।"

इन्द्रनाथ—अरे !

मनोरमा—झूठ नहीं है। यहां के लोग मूर्ख हैं, तुम्हारी कदर क्या जानें ! भैंस के आगे बीणा बज रही है।

इन्द्रनाथ—मेरी रचना के गुण-दोष समझनेवाले वास्तव में थोड़े हैं। सारे शहर में केवल एक व्यक्ति है, जिसे इन बारीकियों का ज्ञान है।

मनोरमा—कौन ?

इन्द्रनाथ—तुम्हें डाह तो न होगा। वह एक स्त्री है, पर ऐसी योग्यता मैंने किसी पुरुष में भी नहीं देखी।

मनोरमा को कुछ सन्देह हुआ। धीरे से बोली, "कौन है ?"

इन्द्रनाथ—श्रीमती मनोरमा देवी रानी। तुमने भी नाम तो सुना होगा !

मनोरमा ने हंसकर मुंह फेर लिया और बोली—जाओ, तुम तो हंसी करते हो।

इन्द्रनाथ—नहीं मनोरमा ! वास्तव में मेरी यही सम्मति है।

मनोरमा—बस, कोई बनाना तुमसे सीख जाए।

इन्द्रनाथ—मेरी हिम्मत तुम न बढ़ातीं तो मैं इतनी उन्नति कभी न करता।

मनोरमा—बड़ी पण्डिता हूं न !

इन्द्रनाथ—यह मेरे दिल से पूछो। सोना अपना मूल्य स्वयं नहीं जानता।

मनोरमा—मगर तुम खुशामद करना खूब जानते हो।

इन्द्रनाथ—समालोचना सुनोगी ?

मनोरमा—सुनाओ।

इन्द्रनाथ ने पढ़ना आरम्भ किया :

"भाव-सुषमा हमारे सामने है। हमने इसे पढ़ा, और कई दिन तक मन पर नशा-सा छाया रहा। ऐसा प्रतीत होता है, मानो हम किसी दिव्यलोक में आ पहुंचे हैं। इसमें सौन्दर्य है, इसमें सादगी है। इसमें स्वाभाविकता है, इसमें कल्पना है। इसमें माधुरी है, इसमें सरलता है। और क्या कहें—इसमें सब कुछ है।"

सहसा किसीने नीचे से आवाज़ दी, "बाबू इन्द्रनाथ !"

इन्द्रनाथ और मनोरमा दोनों चौंक पड़े, जैसे किसी सुमधुर संगीत के बीच में कोई ऊंची आवाज़ से रोने लग जाए। उस समय रोगी के दिल पर क्या गुजरती है, यह वही समझता है। वह झुंझला उठता है, मरने-मारने को तैयार हो जाता है।

बाबू इन्द्रनाथ ने पत्रिका चारपाई पर रख दी और नीचे गए। वापस आए, तो चेहरा उदास था, आंखों में आंसू लहरा रहे थे।

मनोरमा ने पूछा, "कौन था ?"

इन्द्रनाथ—मकान-मालिक था।

मनोरमा का मुंह पीला हो गया। दुःखी होकर बोली, "क्या कहता था ? यह तो बुरा पीछे पड़ा है, चार दिन भी सब्र नहीं करता।"

इन्द्रनाथ—कहता है, अब तो नालिश ही करनी पड़ेगी।

मनोरमा—कितना किराया है ? तीन महीने का ?

जब हमारे पास रुपया नहीं होता तब हम हिसाब नहीं करते। हिसाब करते हुए हमें डर लगता है। इन्द्रनाथ ने मनोरमा की बात को अनसुना कर दिया, और कहा, "जी चाहता है, कोई नौकरी कर लूं। अब यह रोज़-रोज़ का अपमान नहीं सहा जाता। प्रशंसा करने को सभी हैं, सहायता करने को कोई भी नहीं। और खाली प्रशंसा से किसीका पेट कब भरा है ?"

मनोरमा ने अपने पति की ओर देखा और कहा, "कर देखो ! मगर तुम्हारा यह लिखने का चसका तो न छूटेगा। यह भी दूसरी शराब है।"

इन्द्रनाथ—हुआ करे, छोड़ दूंगा। तुमने मुझे अभी समझा ही नहीं।

मनोरमा—खूब समझती हूं। दफ्तर में काम कर सकोगे ?

इन्द्रनाथ—पैसे मिलेंगे तब क्यों न करूंगा !

मनोरमा—अफसरों की झिड़कियां सह सकोगे ?

इन्द्रनाथ—मकान-मालिक के तकाज़ों से तो जान बचेगी।

मनोरमा—यदि किसीने कह दिया, 'अरे ! ये तो वही कविराज हैं जो साहित्यक्षेत्र में इतने प्रसिद्ध हैं, हमने समझा था कोई बड़ा आदमी होगा, यह तो साधारण मुंशी निकला।' तब ?

इन्द्रनाथ—मैं समझूंगा, किसी दूसरे को कहते हैं। अब और क्या करूं ? प्रकाशकों ने तो मेरे परिश्रम पर डाका मारने का निश्चय कर लिया है। कहते हैं, जब कोई ज्यादा न देगा, तब झख मारकर हमारी शर्तें स्वीकार करेगा। वे रुपयेवाले हैं। रुपये का मूल्य समझते हैं। कला का मूल्य नहीं समझते। ऐसे स्वार्थी मुझे क्या दे सकेंगे !

यूरोप में होता तो सोने का महल खड़ा कर लिया होता। यहां अपने भाग्य को रो रहे हैं।

मनोरमा—तुम अपना दिल छोटा न करो। सब ठीक हो जाएगा।

इन्द्रनाथ—तो आज जाऊं, लाला रंगीलाल से मिल आऊं। मेरा दिल कहता है, काम बन जाएगा। बड़े सज्जन हैं।

मनोरमा—ज़रा तारीफ कर देना। बड़े आदमी तो बातों में ही खुश हो जाते हैं।

इन्द्रनाथ—मुझे इस तरह पढ़ाने की ज़रूरत नहीं।

मनोरमा—यह काम हो जाए तो समझें, गंगा नहा लिए।

इन्द्रनाथ—उनका तो बहुत अधिकार है, चाहें तो आज ही नौकरी दे दें। उठो, कपड़े बदलवा दो। बहुत मैले हो गए हैं।

मनोरमा ने उठकर सन्दूक खोला और कपड़े देखने लगी, परन्तु कपड़े धुलकर नहीं आए थे। मनोरमा के हृदय पर दूसरा आघात लगा। उसका मुंह हार्दिक वेदना से पीला पड़ गया। यह वही प्रसन्नवेदना, वही प्रफुल्ल-हृदया मनोरमा थी, जिसके कहकहों से सारा मुहल्ला गूंजता रहता था, पर इस समय वह कितनी अशान्त, कैसी उदास थी! पंछी कभी फूल की डालियों पर बैठकर किलोलें करता है, कभी पंख समेटकर चुपचाप अपने घोंसले में बैठ जाता है।

इन्द्रनाथ ने ठंडी आह भरी और कहा, "मनोरमा! अब नहीं सहा जाता।"

यह वही प्रतिभा-सम्पन्न सुप्रसिद्ध लेखक है जिसकी कविता देश के कोने-कोने में आदर-सम्मान से पढ़ी जाती है, जिसकी लेखनी की रचनाएं पत्थर-दिलों को भी मोह लेती हैं, जिसकी शब्द-रचना को लोग तरसते हैं, जिसका नाम सुनकर लोग श्रद्धा-भाव से गरदन झुका देते हैं, जिसके ग्रन्थ दुष्टात्माओं के लिए धर्म-उपदेशों से कम नहीं। आज वही पचास रुपये की नौकरी करने चला है। काव्य, कल्पना और कला की नगरी का राजा भीख मांगने निकला है।

मनोरमा ने अपने पति की यह हीन दशा देखी, तो आह भरकर भूमि पर बैठ गई। इस समय उसके हृदय में एक ही विचार था—यह सिर किसी-के सामने कैसे झुकेगा ?

३

एक घंटे के बाद इन्द्रनाथ पे-आफिस के सुपरिंटेण्डेण्ट लाला रंगीलाल के दफ्तर में थे। रंगीलाल एक पुस्तक पढ़ रहे थे। उन्होंने बहुत तपाक के साथ उठकर इन्द्रनाथ से हाथ मिलाया और माफी मांगते हुए कहा, "मुझे केवल पांच मिनट की आज्ञा दीजिए।"

यह कहकर लाला रंगीलाल ने सामने पड़ी हुई कुरसी की तरफ इशारा किया, और अपनी पुस्तक पढ़ने में लीन हो गए। इन्द्रनाथ को यह व्यवहार अत्यन्त लज्जाजनक मालूम हुआ। उनको ऐसा मालूम हुआ, जैसे किसीने खुल्लम-खुल्ला निरादर कर दिया हो। उनका चेहरा तमतमा उठा। ख्याल आया, कैसा असभ्य है ! इसे अपने समय का ख्याल है, हमारे समय की परवा नहीं। और यदि अभी से यह दशा है तो नौकर हो जाने के बाद तो शायद द्वार पर प्रतीक्षा करनी होगी।

इन्द्रनाथ ने उठने का संकल्प किया, मगर एकाएक मकान-मालिक की अग्नि-मूर्ति याद आ गई। क्या फिर वही आंखें देखूंगा ? क्या फिर वही धौंस सुनूंगा ? इन्द्रनाथ चुपचाप बैठ गए, जैसे हवा में उड़ते हुए कागज़ों पर कोई लोहे का टुकड़ा धर दे। इन कागजों के टुकड़ों की लोहे के सम्मुख क्या शक्ति है ! आत्मा को प्रकृति ने दबा लिया। यह प्रतीक्षा का समय इन्द्रनाथ के लिए आत्मिक यन्त्रणा का समय था। और जब लाला रंगीलाल ने पुस्तक समाप्त कर ली, तब इन्द्रनाथ को ऐसा मालूम हुआ, जैसे कमरे में हवा का अभाव है, और उनका दम घुटा जा रहा है। मगर रंगीलाल अपनी पढ़ी हुई पुस्तक के ध्यान में तन्मय थे। थोड़ी देर तक वे योग की सी अवस्था में आंखें बन्द किए पड़े रहे; फिर बड़बड़ाने लगे, 'वाह, वाह ! क्या कहना !! कितने-कितने ऊंचे विचार हैं, कैसे पवित्र

भाव ! ! !'

इन्द्रनाथ उनकी ओर आंखें फाड़कर देखने लगे कि ये कहते क्या हैं ? रंगीलाल ने मेज़ पर झुककर कहा, "फरमाइए जनाब, क्या हुक्म है ?"

इतने में कमरे का द्वार खुला बड़े साहब हाथ में टोप लिए हुए अन्दर आए। लाला रंगीलाल खड़े हो गए।

"गुड मार्निंग !"

"गुड मार्निंग ! यह किताब कैसा है ?"

रंगीलाल--बहुत बढ़िया।

साहब ने पुस्तक हाथ में लेकर दूसरे हाथ से उसके पन्ने उलटते हुए कहा, "टो आपको बहोट अचा मालूम हुआ।"

रंगीलाल--अच्छा का सवाल नहीं, मैंने ऐसी पुस्तक हिन्दी में आज तक नहीं देखी।

साहब--इतना अचा है !

रंगीलाल--पढ़ने पर मज़ा मिल गया।

साहब--इंगलिश में किस किताब के माफिक है ?

रंगीलाल--यह मैं नहीं जानता, पर पुस्तक बहुत अच्छी है।

साहब--ड्रामा है क्या ?

रंगीलाल--नहीं साहब, 'पोयट्री' है।

साहब--हिन्दी का पोयट्री क्या होगा ! 'रब्बिश' होगा।

रंगीलाल--यदि आप पढ़ सकते तो ऐसा कभी न कहते।

सहसा इन्द्रनाथ की दृष्टि पुस्तक के कवर की तरफ गई तो वे चौंक पड़े। यह पुस्तक 'भाव-सुषमा' थी। उनका मन-मयूर नाचने लगा। उनका दिल गुलाब के फूल के समान खिल गया। वे अब इस दुनिया में न थे, किसी और दुनिया में थे। उन्हें अब इस तुच्छ, निकृष्ट, नश्वर दुनिया की मोहनी माया--दौलत की परवा न थी। सोचते थे, दौलत क्या है ? आती है, चली जाती है। यह उड़ती-फिरती चिड़िया है, जिसे पिंजरे में बन्द करना

असम्भव है। मेरे पास धन नहीं, धनवान तो हैं। इस आदमी के दिल में मेरा कितना मान है, कैसी भक्ति-भावना है ! पुस्तक की ओर इस तरह देखता है, जैसे कोई भक्त अपने उपास्य देव की ओर देखता हो। पढ़ता था जब आंखें चमकती थीं। मुझे इस दशा में देखेगा तो क्या कहेगा ? चौंक उठेगा। चकित रह जाएगा। उसे कभी आशा न होगी कि मैं भिखारी बनकर उसके सामने हाथ पसारूंगा। मैं उसके सामने आंखें न उठा सकूंगा। लज्जा से भूमि में गड़ जाऊंगा। मुझे नौकरी मिल जाएगी, पर आत्मगौरव की दौलत जाती रहेगी। यह सौदा महंगा है। लोग आत्मगौरव की खातिर सर्वस्व लुटा देते हैं। क्या मैं चांदी के कुछ सिक्कों के लिए इस अनमोल धन से शून्य रह जाऊंगा ? नहीं, यह भूल होगी। मैं यह भूल कभी न करूंगा।

यह सोचकर इन्द्रनाथ धीरे से उठे, और द्वार खोलकर बाहर निकल आए। इस समय उनके मुंह पर आध्यात्मिक आभा थी, जो इस असार संसार में कम ही दिखाई देती है। उनकी आंखों में आत्मसम्मान की ज्योति जलती थी, दिल में स्वर्गीय आनन्द का सागर लहरें मारता था। पहले आत्मा को प्रकृति ने पछाड़ा था, अब प्रकृति पर आत्मा ने विजय पाई। इन्द्रनाथ में वही सन्तोष था, वही त्याग, वही वैराग्य जो संन्यासियों की सम्पत्ति है, जिसके लिए योगी जंगलों में भटकते फिरते हैं। घर पहुंचे तब ऐसे प्रसन्न थे, जैसे कुबेर का धन पा गए हों। मनोरमा बोली, "मालूम होता है, काम बन गया।"

इन्द्रनाथ—आशा से भी अधिक।

मनोरमा—परमात्मा को धन्यवाद है कि उसने हमारी सुन ली। क्या महीना मिलेगा ?

इन्द्रनाथ—कुछ न पूछो, इस समय मेरा दिल बस में नहीं है।

मनोरमा—अरे ! तो क्या मुझे भी न बताओगे ?

इन्द्रनाथ ने मनोरमा को सारी कहानी सुना दी और अन्त में कहा, "मनोरमा ! मुझे नौकरी नहीं मिली, पर आत्मज्ञान मिल गया है। मेरे

ज्ञान-चक्षु खुल गए हैं। मैं अपने-आपको भूला हुआ था, आज मेरे हृदय-पट से परदा उठ गया है। मुझे मालूम हो गया है, कवि की पदवी कितनी महान, कैसी उच्च है! वह दिलों के सिंहासन पर राज्य करता है, वह सोती हुई जाति को जगाता है, वह मरे हुए देश में नवजीवन का संचार करता है। दुनिया अपने लिए जीती है और अपने लिए मरती है, मगर कवि का सारा जीवन उपकार का जीवन है। वह गिरे हुए उत्साह को उठाता है, रोती हुई आंखों के आंसू पोंछता है और निराशावादियों के सम्मुख आशा का दिव्य दीपक रोशन करता है। दुनिया के लोग उत्पन्न होते हैं, और मर जाते हैं पर ऐसे जाति-निर्माता सदा ज़िन्दा रहते हैं, उन्हें कभी मौत नहीं आती। मैंने नौकरी नहीं की, यह अमर जीवन ले लिया है। मनोरमा, मेरा हाथ थामो, मेरी सहायता करो। इसमें सन्देह नहीं, तुम्हें कष्ट होगा, पर इसके बदले में जो आत्मिक आनन्द, जो सच्चासुख प्राप्त होगा, उसका मोल कौन समझ सकता है!"

मनोरमा ने श्रद्धा-भाव से अपने पति की ओर देखा और मुस्कराने लगी।

एथेन्स का सत्यार्थी

यह उस बीते हुए युग की कहानी है, जब यूनान ऐश्वर्य और सभ्यता के शिखर पर था और संसार की सर्वोत्तम सन्तान यूनान में उत्पन्न होती थी।

रात का समय था, काव्य और कला को कभी न भूलनेवाली प्राचीन नगरी एथेन्स पर अन्धकार छाया हुआ था। चारों तरफ सन्नाटा था, चारों तरफ निस्तब्धता थी—सब बाज़ार खाली थे, सब गलियां निर्जन थीं और यह सुन्दर आबाद नगरी रात के अंधेरे में दूर से इस तरह दिखाई देती थी, जैसे किसी जंगल में धुंधली-सी अपूर्ण छाया का पड़ाव पड़ा हो।

पूरी नगरी पूरा विश्राम कर रही थी। उसके विद्वान् और विलासी बेटे अपनी-अपनी शय्या पर बेसुध पड़े थे। रंगशालाएं खाली हो चुकी थीं, विलास-भवनों के दीपक बुझा दिए गए थे और द्वारपालों की आंखों की पलकें नींद के लगातार आक्रमणों के सामने झुकी जाती थीं। परन्तु एक नवयुवक की आंखें नींद की शान्ति और शान्ति की नींद, दोनों से वंचित थीं।

यह देवकुलीश एक विद्यार्थी था, जिसकी आत्मा सत्यदर्शन की प्यासी थी। वह एक बड़े धनवान का बेटा था। उसकी सम्पत्ति उसके लिए प्रत्येक प्रकार का विलास खरीद सकती थी। वह अत्यन्त मनोहर था। यूनान-माता की सबसे सुन्दर बेटियां उसके प्रेम में पागल हो रही थीं। वह बहुत उच्च-

कोटि का तत्त्ववेत्ता था। उसकी साधारण युक्तियां भी अध्यापकों की पहुंच से बाहर थीं। परन्तु उसे इसपर भी शान्ति न थी। वह सत्यार्थी था। वह सत्य की खोज में अपने-आपको मिटा देने पर तुला हुआ था। वह इस रास्ते में अपना सर्वस्व निछावर कर देने को तैयार था। मृत्युलोक की नाशवान खुशियां उसके लिए अर्थहीन वस्तुएं थीं। यौवन और सौन्दर्य की सजीव मूर्तियों में उसके लिए कोई आकर्षण न था। वह चाहता था, किसी तरह सत्य को बेपरदा, नंगा देख ले। ऐसा नहीं, जैसा वह दिखाई देता है, बल्कि ऐसा जैसा वास्तव में है। वह अपनी इस मनोरथ-सिद्धि के लिए सब कुछ को करने तैयार था।

देवकुलीश रात-दिन पढ़ता था।

पढ़ता था और सोचता था, सोचता था और पढ़ता था, मगर उसके स्वाध्याय, चिन्तन और मनन से उसके प्यासे हृदय की प्यास मिटती न थी, बढ़ती जाती थी। सत्य का रोगी चिकित्सा से और ज्यादा बीमार होता जाता था।

२

विद्यालय के विशाल आंगन में एक ऊंचा चबूतरा था जिसपर पता नहीं कब से मिनरवा—ज्ञान और विवेक की देवी—संगमरमर के वस्त्र पहने खड़ी थी। देवकुलीश पत्थर की इस मूर्ति के हिम-समान पैरों के निकट आकर घण्टों बैठा रहता और संसार के रहस्य पर चिन्तन किया करता था। यहां तक कि उसके मित्रों और सहपाठियों ने समझ लिया कि इसके मस्तिष्क में विकार उत्पन्न हो गया है। वे उसकी इस शोचनीय दशा को देखते थे और कुढ़ते थे।

उस रात को भी देवकुलीश देवी के पैरों के निकट बैठा था और रो रहा था, "कृपा कर! ऐ विद्या और विज्ञान की सबसे बड़ी देवी! कृपा कर। मेरे मन की अभिलाषा पूरी कर। मैं कई वर्षों से तेरी पूजा कर रहा हूं, मैंने कई रातें तेरे पैरों को अपने आंसुओं से धोने में काट दी

हैं। मैंने कई दिन केवल तेरे ध्यान में बिता दिए हैं। मेरी प्रार्थना को सुन और उसे स्वीकार कर।"

देवकुलीश यह कहकर खड़ा हो गया और देवी के तेजपूर्ण मुख की तरफ देखने लगा, मगर वह उसी तरह चुपचाप खड़ी थी।

इतने में चन्द्रमा आकाश में उदय हुआ। उसके सुवर्ण और सुशीतल प्रकाश में देवी की मूर्ति और भी मनोहर दिखाई देने लगी।

अब देवकुलीश मूर्ति के चरणों में बैठा था और फिर उसी तरह बालकों के सदृश रो-रोकर प्रार्थना कर रहा था, मानो वह संगमरमर की मूर्ति न थी, इस दुनिया की जीती-जागती स्त्री थी, जो सुनती भी है, बोलती भी है। बुद्धिमान देवकुलीश ने पागलपन के आवेश में कहा, "आज की रात फैसले की रात है। ऐ ज्ञान और विवेक की रानी! तूने मेरे दिल में जिज्ञासा की आग सुलगाई है, तू ही उसे सत्य के शीतल जल से शान्त कर सकती है। सत्य कहां है? अजर, अमर, अटल सत्य! वह सत्य जिसपर बुद्धिमान लोग शास्त्रार्थ करते हैं, जिसका पण्डित चिन्तन करते हैं, जिसे लोग एकान्त में तलाश करते हैं, मन्दिरों में ढूंढ़ते हैं, जिसके लिए दूर-दूर भटकते हैं। मैं उच्चकोटि का सत्य देखने का अभिलाषी हूं। नहीं तो मैं चांद की उज्ज्वल चांदनी के सामने तेरे पवित्र पैरों की सौगन्ध खाकर कहता हूं कि अपने निरर्थक जीवन को यहीं, इसी जगह समाप्त कर दूंगा। मुझे सत्यहीन जीवन की काई आवश्यकता नहीं।"

यह कहकर देवकुलीश ने अपनी चादर के अन्दर से एक कटार निकाली और आत्महत्या करने को तैयार हो गया।

एकाएक पत्थर की मूर्ति सजीव हो गई। उसने देवकुलीश के हाथ से कटार छीन ली। उसे आंगन के एक अंधेरे कोने में फेंक दिया और कहा, "देवकुलीश!"

देवकुलीश कांपता हुआ खड़ा हो गया और आशा, आनन्द और सन्देह की दृष्टि से देवी की ओर देखने लगा, क्या यह सच है?

हां, यह सच था, देवी के होंठ सचमुच हिल रहे थे, "देवकुलीश ! देवकुलीश !" देवकुलीश देवी का एक-एक शब्द पूरे ध्यान से सुन रहा था।

"देवकुलीश ! मौत का मार्ग अंधेरा है। तू मेरा पुजारी—मेरी आंखों के सामने इस मार्ग पर नहीं जा सकता। मेरे लिए यह असह्य है कि मेरे सामने कोई व्यक्ति आत्महत्या कर जाए। बोल, क्या मांगता है ? मैं तेरी हरएक मनोकामना पूरी करने को तैयार हूं।"

देवकुलीश का दिल सफलता के आनन्द से धड़क रहा था। उसके मुंह से शब्द न निकलते थे। वह देवी के पैरों के निकट बैठ गया और श्रद्धाभाव से बोला, "पवित्र देवी ! मैं सत्य को उसके असली रूप में देखना चाहता हूं—नंगा, बेपरदा, खुला सत्य। और कुछ नहीं, बस सत्य !"

"तू सत्य को जानना चाहता है !"—देवी के होंठों से आवाज़ आई, "तू आप सत्य है। यह आंगन भी सत्य है। मैं भी सत्य हूं। आंखें खोल, सत्य संसार के चप्पे-चप्पे में मौजूद है।"

देवकुलीश—मगर उसपर परदे पड़े हुए हैं।

देवी—विवेक की आंख उन परदों के अन्दर का दृश्य भी देख सकती है।

देवकुलीश—पवित्र माता ! मैं सत्य को विवेक से नहीं आंखों से देखना चाहता हूं। मैं सोचकर नहीं देखना चाहता, देखकर सोचना चाहता हूं।

देवी ने अपना पत्थर का सफेद, ठंडा और भारी हाथ देवकुलीश के कन्धे पर रख दिया और मीठे स्वर में बोली, "बेपरदा, नंगा सत्य आज तक दुनिया के किसी बेटे ने नहीं देखा, न देवताओं ने किसी बेटे को यह वरदान दिया है। तू अन्न का कीड़ा है, तेरी आंखों में यह दृश्य देखने की शक्ति कहां ? मेरा परामर्श है, यह ख्याल छोड़ दे और अपने लिए कोई और वस्तु मांग, मैं अभी इसी जगह दूंगी।"

देवकुलीश—यूनान की सबसे बड़ी देवी ! मैं केवल नंगा सत्य देखना चाहता हूं और कुछ नहीं चाहता।

देवी—मगर इसका मूल्य···

देवकुलीश—जो कुछ तू मांगे।

देवी—धन, दौलत, सौंदर्य, यश सब तुझसे छूट जाएंगे। तुझे अपनी दुनिया को चांद और सूरज के प्रकाश से भी वंचित करना होगा—शायद इस यत्न में तुझे अपने जीवन की भी आहुति देनी पड़े। बोल, क्या अब भी तू सत्य का नंगा रूप देखना चाहता है?

देवकुलीश—मुझे सब कुछ स्वीकार है।

देवी ने सिर झुका लिया।

देवकुलीश—परमेश्वर की सृष्टि में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो मैं इसके लिए न त्याग सकूं।

देवी ने फिर सिर उठाया और मुस्कराकर कहा, "बहुत अच्छा ! तू सत्य को देख लेगा, तुझे सत्य दिखा दिया जाएगा, सत्य का वास्तविक नंगा रूप तेरे सामने होगा ; परन्त एक वार नहीं, धीरे-धीरे चल ! आज सत्य का एक परदा उठा, बाकी एक वर्ष के बाद !"

३

यह कहते-कहते देवी ने अपनी सफेद पत्थर की चादर उतारकर चबूतरे पर रख दी और देवकुलीश को गोद में उठा लिया। देखते-देखते देवी के दोनों कन्धों पर परियों के से दो पर निकल आए। देवी ने पर खोले और हवा में उड़ने लगी। पहले शहर, मन्दिरों के कलश, पर्वत, फिर चांद, तारे, बादल सब नीचे रह गए। देवी देवकुलीश को लिए आकाश में उड़ी जा रही थी। थोड़ी देर बाद उसने देवकुलीश को बादलों के एक पहाड़ पर खड़ा कर दिया। देवकुलीश ने देखा, पृथ्वी उसके पांव तले, बहुत दूर, बहुत नीचे एक छोटे-से तारे के समान टिमटिमा रही है। और यह है वह दुनिया, जिसको वह इतना बड़ा समझ रहा था।

मगर देवकुलीश का ध्यान इस ओर न था । उसने अपने पास छाया में छिपी हुई एक धुंधली-सी चीज़ देखी और देवी से पूछा, "यह क्या है ?"

देवी—यह सत्य है। यह छिपकर यहां रहता है। यहीं से तेरी और और अनगिनत दूसरी दुनियाओं को अपनी दिव्य-ज्योति भेजता है । इसी के धुंधले प्रकाश में बैठकर बुद्धिमान लोग संसार की पहेलियां हल किया करते हैं और गुरु अपने शिष्यों को जीवन की शिक्षा देते हैं । यही प्रकाश सृष्टि का सूरज है, यही ज्योति मानव-चरित्र का आदर्श है । तू कहेगा, यह तो कुछ ज्यादा प्रकाशमान नहीं; परन्तु देवकुलीश ! तेरे शहर के निकट जो नदी बहती है, यदि उसकी सारी रेत का एक-एक कण एक-एक सूरज बन जाए, तब उससे भी इतना प्रकाश न होगा, जितना इस पहाड़ की छाया में है, मगर वह परदों में छिपा हुआ है । चल आगे बढ़, और इसका परदा फाड़ दे।

देवकुलीश ने एक परदा फाड़ दिया। इसके साथ ही उसे ऐसा मालूम हुआ जैसे संसार में एक नवीन प्रकार का प्रकाश फैल गया है । सच की छाया अब पहले से अधिक स्पष्ट और चमकदार थी। देवी देवकुलीश को फिर एथेन्स में उड़ा लाई और अपनी संगमरमर की चादर ओढ़कर उसी तरह चुपचाप खड़ी हो गई।

अब देवकुलीश की दृष्टि में चांदी और सोने का कोई मूल्य न था। वह लोगों को धन के पीछे भागते देखता तो उसे आश्चर्य होता था। वह चांदी को सफेद लोहा और सोने को पीला लोहा कहता था और इनकी प्राप्ति के लिए अपना परिश्रम नष्ट न करता था । उसे पढ़ने की धुन थी, दिन-रात पढ़ता रहता था। उसके बाप ने उसका साधु-स्वभाव देख कह दिया कि इसे मेरी जायदाद में से कुछ न मिलेगा। परन्तु देवकुलीश को इसकी ज़रा चिन्ता न थी । उसके मित्र-सम्बन्धी कहते, "देवकुलीश ! यह आयु जवानी और गरम खून की है। सफेद बालों और झुकी हुई कमर का युग आरम्भ होने से पहले-पहल कुछ जमा कर ले, नहीं फिर बाद में पछताएगा।"

देवकुलीश उनकी तरफ अद्‌भुत दृष्टि से देखता और कहता, "तुम क्या कह रहे हो, मैं कुछ नहीं समझता।"

एथेन्स की एक बहुत अमीर की कुंवारी बेटी अब भी देवकुलीश से प्रेम करती थी। जब वह देवकुलीश की इस दीन दशा को देखती थी तो अपने दिल में कुढ़ती थी। देवकुलीश के खाने-पीने का प्रबन्ध भी वही करती थी, अन्यथा वह भूखा-प्यासा मर जाता।

इसी तरह एक वर्ष के तीन सौ पैंसठ दिन समाप्त हो गए। रात का समय था। एथेन्स पर फिर अन्धकारपूर्ण सन्नाटा छाया हुआ था। देवकुलीश ने फिर देवी के पैरों पर सिर झुकाया। देवी उसे फिर बादलों के पहाड़ पर ले गई, और देवकुलीश ने सत्य का दूसरा परदा फाड़ दिया। इस बार सत्य का प्रकाश और भी साफ हो गया। देवकुलीश ने उसे देखा और उसकी आंखों को वे ज्ञानचक्षु मिल गए जो यौवन और सुकुमारता के लाल लहू के पीछे छिपे बुए बुढ़ापे की एक-एक झुर्री को देख सकते हैं। फिर वह अपनी अज्ञान और अविद्या की दुनिया को वापस चला आया। देवी फिर संगमरमर का बुत बनकर अपने स्थान पर खड़ी हो गई।

४

एक दिन उसके एक मित्र ने कहा, "देवकुलीश ! आज यूनान की सारी कुंवारी लड़कियां एथेन्स में जमा हैं और यूनान की सबसे सुन्दरी युवती को सौन्दर्य का पहला इनाम दिया जाएगा। क्या तू भी चलेगा ?"

देवकुलीश ने उसकी ओर मुस्कराकर देखा और कहा, "सत्य वहां नहीं है।"

दूसरे दिन एक अध्यापक ने कहा, "आज यूनान के सारे समझदार लोग विद्यालय में जमा हैं। क्या तुम उनसे मिलोगे ?"

देवकुलीश ने ठण्डी आह भरकर जवाब दिया, "सत्य वहां भी नहीं है।"

तीसरे दिन एक महन्त ने कहा, "आज चांद देवी के बड़े मन्दिर में देवताओं की पूजा होगी। क्या तुम भी आओगे ?"

देवकुलीश ने लम्बी आह खींची और कहा, "सत्य वहां भी नहीं है।"

और इस तरह सत्यार्थी ने जवानी में ही जवानी के सारे प्रलोभनों पर विजय प्राप्त कर ली। अब वह पूरा सन्त था, मगर वह एथेन्स के किसी मेले में नज़र न आता था, उसकी आवाज़ किसी सभा में सुनाई न देती थी।

देवकुलीश साल-भर एकांत में पढ़ता रहता और इसके बाद बादलों के पहाड़ पर जाकर सत्य का एक परदा फाड़ आता था। इसी तरह कई वर्ष बीत गए। उसका ज्ञान दिन पर दिन बढ़ता गया। मगर उसकी आंखें अंदर धंस गई थीं, कमर झुक चुकी थी; सिर के सारे बाल सफेद हो गए थे। उसने सत्य की खोज में अपनी जवानी बुढ़ापे की भेंट कर दी थी। मगर उसे इसका दुःख न था, क्योंकि वह जवानी और बुढ़ापे की सत्ता से परिचित हो चुका था।

और लोग यह समझते थे—देवकुलीश ने अपने लिए अपनी कुटिया को अपनी समाधि बना लिया है।

५

आखिर वह प्यारी रात आ गई जिसकी प्रतीक्षा में देवकुलीश का अपने जीवन का एक-एक क्षण, एक-एक वर्ष, एक-एक शताब्दी से भी लम्बा मालूम होता था।

आज सत्य के मुंह से अंतिम परदा उठेगा। आज वह सत्य को नंगा, बेपरदा देखेगा, जिसे संसार के किसी नश्वर पुत्र ने आज तक नहीं देखा। आज उसकी सबसे बड़ी साध पूरी हो जाएगी।

आधी रात को उसे विवेक और विज्ञान की देवी ने अन्तिम बार गोद में उठाया और बादलों के पहाड़ पर ले जाकर खड़ा कर दिया।

देवकुलीश ने सत्य की ओर अधीर होकर देखा।

देवी ने कहा, "देवकुलीश ! देख, इसका प्रकाश कैसा साफ, कैसा तेज़ है ! अब तक तूने इसके जितने परदे उतारे हैं, वे इसके परदे न थे, तेरी बुद्धि के परदे थे। सत्य का एक ही परदा है, आगे बढ़ और उसे उतार दे, परन्तु अगर तू चाहे तो अब भी लौट चल । मैं तुझे सातों समुद्रों के मोती और दुनिया का सारा सोना देने को तैयार हूं। तेरा गया हुआ स्वास्थ्य वापस मिल सकता है। तेरा उजड़ा हुआ यौवन लौटाया जा सकता है। मुझसे कह, तेरे सिर के सफेद बालों को छूकर फिर से काला कर दूं। देवकुलीश ! अब भी समय है, अपना संकल्प त्याग दे।"

मगर शूर सत्यार्थी ने देवी का कहना न माना और आगे बढ़ा। उसका कलेजा धड़क रहा था, उसके पांव लड़खड़ा रहे थे, उसके हाथ कांप रहे थे, उसका सिर चकरा रहा था, मगर वह फिर भी आगे बढ़ा । उसने अपनी आत्मा और शरीर की सकल शक्तियां हाथों में जमा कीं और उन्हें फैलाकर सत्य का अंतिम परदा फाड़ दिया।

ओ परमात्मा !

चारों ओर अंधकार छा गया था, ऐसा भयानक अन्धकार जैसा इससे पूर्व देवकुलीश की आंखों ने कभी न देखा था । उसने चिल्लाकर कहा, "देवी माता ! यह क्या हो गया ? मुझे कुछ दिखाई नहीं देता। वह जो परदे के पीछे था, कहां चला गया ?"

देवी ने मधुर स्वर से कहा, "देवकुलीश ! देवकुलीश !!"

देवकुलीश ने अंधेरे में टटोलते हुए कहा, "देवी ! मुझे बता, वह कहां है ? मैं कहां हूं ? तू कहां है ?"

देवी ने अपना हाथ धीरे से उसके कन्धे पर रखा और बोली, "देवकुलीश ! तेरी आंखें नंगे सत्य का दृश्य देखने में असमर्थ होने के कारण फूट गईं। अब संसार की कोई शक्ति ऐसी नहीं, जो उन्हें ठीक कर सके। मैंने तुझसे कहा था, यह विचार छोड़ दे, परन्तु तूने न माना और अब तूने देख लिया कि जब मनुष्य सत्य को नंगा देखना चाहता है,

तो क्या देखता है ! सत्य परदों के अन्दर ही से देखा जा सकता है। जब उसका परदा उतार दिया जाता है तो मनुष्य वह देखता है जो कभी नहीं देख सकता।"

देवकुलीश बादलों के पहाड़ पर मुंह के बल गिर पड़ा और फूट-फूटकर रोने लगा।

हज़ारों वर्ष बीत चुके हैं, पर एथेन्स के सत्यार्थी की खोज अभी तक जारी है। अगर कोई आदमी बादलों के पहाड़ की घाटियों में जा सके, तो उसे देवकुलीश के रोने की आवाज़ आज भी उसी तरह सुनाई देगी।

अठन्नी का चोर

रसीला बाबू जगतराम सिंह इंजीनियर के यहां नौकर था। दस रुपये वेतन था। गांव में उसके बुड्ढे पिता और जवान स्त्री के अतिरिक्त एक लड़की और दो लड़के थे। इन सबका भार उसीके कन्धों पर था। रसीला को जो तनख्वाह मिलती, वह सारी घर भेज दिया करता। उसमें से वह अपने लिए एक पैसा भी न रखता। मगर घरवालों का गुज़ारा फिर भी न होता। रो-रोकर पत्र लिखते—इतने में पूरा नहीं पड़ता, अधिक भेजो। रसीला यह हाल जानकर व्याकुल हो जाता। सोचता, क्या करते होंगे! उसने इंजीनियर साहब से वेतनवृद्धि के लिए कई बार प्रार्थना की, पर इसका कुछ फल न हुआ। इंजीनियर साहब ने हर बार यही कहा, "मैं तनख्वाह न बढ़ाऊंगा, चाहे रहो, चाहे चले जाओ। अगर तुम्हें कोई ज़्यादा दे तो चले जाओ। मैं तुम्हें ज़बरदस्ती नहीं रोकता।" रसीला अनपढ़ था। उसे सभ्य समाज का पानी न लगा था। वह रीति और नीति के गूढ़ रहस्य न समझता था। परन्तु वह मूर्ख न था। इतना जानता था कि दूसरी जगह जाना ठीक न होगा। सोचता, यहां आठ साल से नौकर हूं, घरवालों में हिल-मिल गया हूं। अमीर घरों में लोग नौकर पर विश्वास नहीं करते; परन्तु यहां मुझपर कभी किसीने सन्देह नहीं किया। यहां से छोड़कर दूसरी जगह जाऊंगा तो मुझे कौन सौ-पचास की नौकरी दे देगा! सम्भव है, कोई ग्यारह-बारह दे दे, पर यह आदर न मिलेगा। रसीला को नौकरी छोड़ने का साहस न हुआ।

बेबसी ने पांव बांध दिए। उसके मालिक के बंगले के पड़ोस में शेख सलीमउद्दीन ज़िला मजिस्ट्रेट रहते थे। उनके चौकीदार मियां रमज़ान और रसीला में बहुत मैत्री थी। घंटों एकसाथ बैठे रहते, बातें करते और तम्बाकू पीते। शेख साहब फलों के शौकीन थे; रमज़ान रसीला को फल देता। इंजीनियर साहब मिठाई के रसिया थे, रसीला रमज़ान को मिठाई देता। सादगी की इस मुरौवत में जो स्वर्गीय आनन्द है वह न धन-दौलत में है, न राजमहलों में। दोनों गरीब थे, दोनों नेक, एक-दूसरे से अपनी हरएक बात साफ-साफ कह दिया करते। कभी-कभी उनमें युद्ध भी छिड़ जाता। इस समय उनकी जीभ ऐसी चलती, जैसे दरज़ी की कैंची। मगर युद्ध का समय ज़्यादा न होता। प्रातःकाल लड़ते, सन्ध्या को सन्धि हो जाती, जैसे दरज़ी कपड़े फाड़कर सूई से सी लेता है। उस समय उस कपड़े में कैसी सुन्दरता होती है, कैसी आकर्षण-शक्ति! यही दशा इस जोड़ी की थी। उनकी लड़ाई पानी के बुलबुले थे, जो इधर बनते हैं उधर टूट जाते हैं। उनसे पानी की हानि नहीं होती, वरन् शोभा बढ़ जाती है।

२

एक दिन रमज़ान ने रसीला को उदास देखकर पूछा, "भाई साहब! यह चेहरे पर परेशानी कैसी?"

रसीला वास्तव में दुःखी था। परन्तु उसने अपना दुःख छिपाने का यत्न करते हुए उत्तर दिया, "मैं उदास क्यों होने लगा? तुम्हें भरम हुआ।"

"नहीं, मुझसे छिपाते हो।"

"भैया! तुमसे आज तक मैंने कोई बात नहीं छिपाई।"

"पर अब तो छिपा रहे हो, तुम्हारा चेहरा कह रहा है।"

रसीला का हृदय रोता था, मगर उसने होंठों से मुस्कराकर कहा, "यह तुम्हारा भरम कैसे दूर हो?"

"गंगा मैया की सौगन्ध खाओ।"

रसीला की जीभ से उत्तर न निकला। पृथ्वी की ओर देखने लगा। रमज़ान बोला, "लो अब कह ही दो।"

रसीला ने धीरे-धीरे सिर उठाया और ठंडी सांस भरकर बोला, "पूछकर क्या करोगे?"

"और न होगा, तुम्हारे दिल का भार तो हलका हो जाएगा।"

रसीला ने सिर झुका लिया। सोचने लगा, कहूं या न कहूं। पर न कहना असम्भव था। हम दबाव के सामने तन सकते हैं, मगर प्रीति और सहानुभूति के सामने खड़े होने का साहस किसमें है! रसीला ने रमज़ान का हठ देखा तो उसकी आंखें सजल हो गईं। रमज़ान के साथ उसका लहू का नाता न था, धर्म और जाति का नाता न था, परन्तु फिर भी वह उसका दुःख-दर्द बांटने को अधीर हो रहा था। यह मनुष्यत्व का नाता था। रसीला चुप न रह सका। उसने रुककर कहा, "घर से खत आया है। बच्चे बीमार हैं, और रुपया नहीं।"

"तो लाला साहब से पेशगी मांग लो। ज़रूर दे देंगे।"

"मांग चुका, नहीं देते।"

"क्या कहते हैं?"

"कहते हैं, बहाने बनाते हो, मैं एक पैसा भी न दूंगा। कैसा अभागा हूं? वे वहां बीमार पड़े हैं, मैं यहां अपने प्रारब्ध को रोता हूं, जो अभागे लोगों का अन्तिम सहारा है।"

रमज़ान ने ठंठी सांस भरी और कहा, "अल्लाह!"

"जी चाहता है उड़कर घर पहुंच जाऊं।"

"अल्लाह ताला अपना फज़ल करे।"

"कोई कलेजे में बैठा उसे मल रहा है।"

"खुदा का ध्यान करो।"

"पता नहीं उनका क्या हाल है। घबरा रहे होंगे। थोड़े भी रुपये भेज देता तो उन्हें सन्तोष हो जाता।"

रमज़ान ने अब तक अपने-आपको रोका था, अब न रोक सका। सिर उठाकर बोला, "कितने रुपयों से तुम्हारा काम चल जाएगा?"

रसीला चौंक पड़ा। आशा की किरण सामने दिखाई दी। कुछ आगे खिसककर बोला, "दुर्गा माता की सौगन्ध, इस समय तो पांच रुपये भी पांच मोहरों से कम नहीं हैं।"

रमज़ान उठकर खड़ा हो गया। इस समय उसका दिल सीने में इस तरह धड़क रहा था, जैसे कोई उसकी आंखों-तले किसी बालक का वध कर रहा हो। उसने रसीला को ठहरने का संकेत किया और आप अपनी कोठरी में चला गया। थोड़ी देर के बाद उसने रुपये रसीला के हाथ पर रख दिए। रसीला के मुंह से कोई शब्द न निकला। वह उस समय कृतज्ञता की उस सीमा पर पहुंच चुका था, जहां आदमी को अपने भाव प्रकट करने को शब्द नहीं मिलते। उसने अपनी आंसुओं से भीगी हुई आंखें ऊपर उठाईं और आकाश की ओर देखकर सिर झुका लिया। दिल में सोचता था—बाबू साहब के पास रुपये-पैसे की कमी नहीं। यदि पेशगी दे देते तो मैं भाग न जाता। मैंने उनकी इतनी सेवा की है। क्या मेरा इतना भी अधिकार नहीं? रमज़ान गरीब आदमी है। उसके पास बहुत होगा, बीस-पच्चीस रुपये होंगे। परन्तु मेरे दुःखों में उसने मेरा हाथ थाम लिया। वह आदमी नहीं, देवता है। मैं उसकी नेकी का क्या बदला दूंगा! दुर्गा माता उसका भला करे।

३

कई महीने बीत गए, रसीला के बाल-बच्चे स्वस्थ हो गए। उसने रमज़ान का ऋण चुका दिया है। अब उसके ज़िम्मे केवल आठ आने बाक़ी हैं। रमज़ान ने इन रुपयों के लिए कभी तगादा नहीं किया, न कभी उसका प्रसंग छेड़ा। वह इसे मनुष्यता से गिरा हुआ समझता था। मगर रसीला के दिल पर बोझ-सा पड़ा रहता था। उसके सामने उसकी आंखें न उठती थीं, न वह उससे खुलकर बातचीत कर सकता था, यहां तक कि उसे

अवकाश के समय शेख साहब के बंगले में पांव रखते भी लाज आती थी। कभी वे दिन थे, जब वह इस समय के लिए अधीर हो उठता था। तब वह किसीका ऋणी न था। अब उसे रमज़ान का ऋण चुकाना था। इसीलिए उसने थोड़ा-थोड़ा करते साढ़े चार रुपये चुका दिए थे। अब केवल आठ आने बाकी थे।

तीसरे पहर का समय था। रसीला ने घर का काम-काज समाप्त किया और मियां रमज़ान से मिलने चला। लेकिन वह वहां न था। रसीला निराश होकर लौट आया और नहाने के कमरे में बैठकर हुक्का पीने लगा। यह कमरा लाला जगतरामसिंह के आफिस के पास ही था। हुक्का पीते-पीते उसे ऐसा मालूम हुआ, जैसे आफिस में कोई बातचीत कर रहा हो। रसीला डर गया। इस समय लाला साहब मकान पर न होते थे। यह उनके दफ्तर का समय था। रसीला ने दरवाज़े से कान लगा दिए और सुनने लगा। स्वयं इंजीनियर साहब थे, जो किसीसे बातचीत कर रहे थे। रसीला की सन्तुष्टि हो गई, मगर वह खड़ा ही रहा। छिपकर बातें सुनने में हमें मज़ा आता है। रसीला चौंक पड़ा, यह आदमी इंजीनियर साहब को रिश्वत देने आया था। उसे अपने कानों पर विश्वास न आता था, पर शब्द साफ थे :

"यह आप क्या दे रहे हैं मुझे ?"

"पांच सौ रुपया है।"

"इतनी थोड़ी रकम मैं न लूंगा। यह मेरा अपमान है।"

"मैं आपका सेवक हूं। यह रकम नहीं, पान-सुपारी के लिए भेंट है। आप समझें, आपने मेरा काम मुफ्त कर दिया। यह अहसान सारी उम्र न उतरेगा। जब तक जीता हूं, हुज़ूर की जान को दुआ देता रहूंगा।"

लाला जगतराम ने धीरे से कहा, "खैर, आपकी खातिर लिए लेता हूं।"

रसीला ने इन शब्दों को कुछ समझा, कुछ न समझा, परन्तु इनके

अर्थ समझने में उसे देर न लगी। पाप और अत्याचार को मूर्ख भी समझते हैं। उसे भय था कि कहीं कोई चोर लाला साहब के मकान पर हाथ न साफ कर रहा हो। परन्तु वहां तो स्वयं लाला साहब किसी भले आदमी को लूट रहे थे। रसीला ने आत्मपतन का यह लोभभय दृश्य देखा तो उसके हृदय में असन्तोष का सोता खुल गया। सोचने लगा—रुपया कमाने का यह तरीका कितना आसान है, कितना सीधा ! इसके लिए लाला साहब ने परिश्रम नहीं किया, न दिमाग लड़ाया। आदमी घर बैठे लक्ष्मी दे गया। एक मैं हूं कि सारा दिन मजदूरी करता हूं और तब कहीं महीने-भर के बाद दस रुपये हाथ आते हैं। पाप-सागर के इस भयंकर बहाव ने उसकी बरसों की ईमानदारी को इस तरह निगल लिया, जैसे दरिया की गरजती हुई लहरें किनारे की हरियाली को निगल जाती हैं। बहुत देर तक सिर झुकाए हुए वह अपने विचारों में लीन रहा और इसके बाद फिर रमजान की तरफ चला। इस समय रमजान बैठा सिगरेट पी रहा था। रसीला को देखते ही बोला, "भैया ! आज कहां गायब रहे ?"

"कुछ न पूछो।"

"क्यों ? ऐसी कौन-सी बात है ?"

"दुनिया में अद्‌भुत बातें होती रहती हैं।"

"मगर बात भी कहोगे या पहेलियां ही बुझवाओगे ?"

"मियां साहब, जीभ खोलते हुए भय लगता है।"

"तो मालूम होता है, हमपर ऐतबार नहीं।"

रसीला बोला, "यह तुम्हारा भरम है। तुमपर ऐतबार न होगा तो फिर किसपर होगा ?"

"तो फिर छिपाते क्यों हो ?"

रसीला ने चारों तरफ देखा कि कोई सुनता न हो, फिर धीरे से कहा, "किसीसे कहोगे तो नहीं ?"

"जबान खींच लेना !"

रसीला ने सारी बात सुना दी।

रमज़ान ने पूछा, "बस यही बात थी ?"

"हां भाई ! मैं इसे छोटी बात नहीं समझता।"

रमज़ान ने रसीला की तरफ रहस्यपूर्ण दृष्टिपात किया और बोला, "हमारे शेख साहब के बारे में तुम्हारी क्या राय है ?"

"भगवान जाने, हमने किसीका मन तो नहीं देखा। पर आदमी नेक मालूम होते हैं।"

"तुम्हारे लाला साहब के गुरु हैं।"

"तुम्हें मेरी सौगन्ध, धोखा तो नहीं देते।"

"आज भी एक शिकार फंसा है। हज़ार से कम में न तय होगा।"

"तो ये लोग इसी तरह पैसा कमाते हैं ?"

"और क्या ? तनख्वाह पर रहें तो ऐसे बड़े-बड़े मकान कैसे खड़े कर लें। इस गुनाह का फल मिलेगा या नहीं, यह खुदा जाने, लेकिन इस दुनिया में तो मज़े उड़ाते हैं।"

४

रसीला सोचने लगा, आज तक मूर्खता की। मेरे हाथों सैकड़ों रुपये निकल गए, कभी धर्म नहीं बिगाड़ा। अगर एक-एक आना भी उड़ाता तो इस समय खासी रकम जमा होती। आज जवान हूं, कमाता हूं, खा लेता हूं। कल को बुड्ढा हो गया तो कौन देगा ? बाबू साहब तो लात मारकर बाहर निकाल देंगे। उस समय बैठा प्रारब्ध को रोऊंगा। धर्म की शोभा बहुत है, पर इससे कुछ मिलता नहीं। पाप का नाम बुरा है, पर जिसके साथ लगता है उसे पार उतार देता है। और फिर यह धर्म क्या केवल हम मजदूरों के लिए ही रह गया है ? इन अमीरों को भी तो कुछ ख्याल करना चाहिए। जब ये कुछ परवाह नहीं करते तो हमीं क्यों करें ? आज तक बहुत किया, अब न करूंगा। इतने में लाला साहब ने उसे बुलाकर कहा, "रसीला, यह लो, दौड़कर पांच रुपये की

मिठाई ले आ।

रसीला को मौका मिल गया। पाप आदमी के पास चलकर आता है। किसीको उसे खोजने की ज़रूरत नहीं पड़ती। रसीला ने साढ़े चार की मिठाई खरीदी और अठन्नी रमज़ान को दे दी। उसने समझा, ऋण का भार उतर गया; पर पाप का भार कब उतरेगा, यह ख्याल न किया। मनुष्य कितना अदूरदर्शी है! यह इस संसार के आज को देखता है, दूसरी दुनिया के कल को नहीं देखता। अगर देखे तो संसार स्वर्ग बन जाए।

बाबू जगतरामसिंह ने मिठाई देखी तो चौंक पड़े। रसीला पर सन्देह हुआ, बोले, "यह मिठाई कितने की है?"

रसीला का रंग उड़ गया। सोचा, क्या पहला ही पाप प्रकट हो जाएगा? परन्तु साहस कर बोला, "हज़ूर! पांच रुपये की है।"

"सच कहते हो क्या? तुमने आज तक झूठ नहीं बोला। देखो, साफ-साफ कह दो। सांच को आंच नहीं।"

"नहीं सरकार! मैं झूठ काहे को बोलूंगा! पांच रुपये की है।"

मगर जगतरामसिंह को विश्वास न हुआ। रसीला के उड़े हुए रंग और सहमी हुई आंखों ने काम बिगाड़ दिया। नये पापी की जीभ झूठ बोल सकती है, परन्तु उसकी आंखें झूठ नहीं बोल सकतीं। उसके लिए संकल्प काफी है, इसके लिए अभ्यास की आवश्यकता है। रसीला झूठ बोल रहा था, परन्तु आंखें साथ न देती थीं। जगतरामसिंह सब कुछ समझ गए। उन्होंने कड़ककर कहा, "तू बकता है, यह मिठाई पांच रुपये की कभी नहीं है।"

झूठा आदमी रोने पर बहुत जल्द उतर आता है। इस तरह हम दूसरों के कृपापात्र बन जाते हैं। रसीला भी रोने लगा। इंजीनियर साहब की स्त्री पर असर हो गया, बोली, "रहने भी दो, धमकाए जाते हो। गरीब ने कभी पैसा तक नहीं हिलाया।"

रसीला को सहारा मिल गया, जैसे किसी डूबते को किनारा मिल

जाए। और भी ऊंची आवाज़ से रोने लगा, "दुहाई है सरकार की। मैंने एक पैसा तक नहीं छेड़ा। पूरे पांच की है।"

बाबू जगतरामसिंह ने रसीला के मुंह पर एक तमाचा मारा, और गरजकर बोले, "किस दुकान से लाया है ?"

"दिल्लीवाले की दुकान से, जो बड़े चौक में है।"

"देखो, झूठ न बोलो। साफ-साफ कह दो, माफ कर दूंगा।"

"नहीं सरकार, मेरा दोष भी हो, मान कैसे लूं ?"

"तो मेरे साथ चलो, अभी सच-झूठ का निश्चय हो जाएगा।"

रसीला बाबू साहब के साथ चला। इस समय उसके पांव कांप रहे थे, परन्तु पांवों से अधिक उसका दिल कांप रहा था। वह चाहता था, किसी तरह बीता हुआ समय वापस आ जाए। मगर परमात्मा का यह अटल नियम कैसे बदल जाता ! उसने राह में एक बार फिर कहा, "हजूर ! मेरे शरीर पर कोढ़ फूटे, जो मैंने चोरी की हो।"

इंजीनियर साहब ने सुना-अनसुना कर दिया। झूठा बातें बहुत बनाता है, परन्तु उसमें दम नहीं होता। वह ज्यों-ज्यों घटनास्थल के समीप पहुंचता है, बैठता जाता है। किन्तु सच घमण्ड से गर्दन उठाकर चलता है, उसे किसीका भय नहीं होता, न वह परीक्षा के समय पीछे हटता है। इंजीनियर साहब ने बेपरवाई से उत्तर दिया, "मेरे साथ चला आ। अब ये बातें हलवाई के सामने ही कहना।"

अब चारों रास्ते बन्द थे। रसीला को भागने का अवसर न मिला। वह सहसा रुक गया। इंजीनियर साहब ने क्रोध से कहा, "चलता क्यों नहीं ?"

रसीला ने सिर झुका लिया और बोला, "वहां जाकर क्या करूंगा ?"

इंजीनियर साहब ने उसे तीखी दृष्टि से देखकर पूछा, "तू अपनी चोरी मानता है ?"

"अब जो कुछ वहां जाकर होना है, वह यहीं क्यों न हो जाए।

सरकार माई-बाप हैं। यह गलती हो गई। अब के माफ कर दें, फिर खता हुई तो चमड़ी उतार लेना।"

"मिठाई कितने की थी?"

"साढ़े चार रुपये की। अठन्नी रमज़ान को दे दी। उससे पांच रुपये उधार लिए थे। बाकी तलब से दे दिए थे। आठ आने रहते थे, वह आज दे दिए।"

इंजीनियर साहब की आंखों से आग बरसने लगी। उन्होंने घर आकर रसीला को हाथों की पूरी शक्ति से मारा। ऐसी निर्दयता से धोबी मैले कपड़े को भी पत्थर पर न मारता होगा। रसीला ने कभी मार न खाई थी। यह इस तरह कराहता था जैसे बकरा कसाई के छुरे तले कराहता है। उसकी आवाज़ से पत्थरों में भी सूराख हो जाते, मगर इंजीनियर साहब को उसपर ज़रा दया न आई। यहां तक कि बेंत को उसकी दशा पर दया आ गई और वह पुरज़ा-पुरज़ा हो गया। इंजीनियर साहब ने हाथ रोक लिया, परन्तु उनका हृदय अब भी न रुका। उन्होंने रसीला को पुलिस के हवाले कर दिया और उन रिश्वत के पांच सौ रुपयों में से पांच रुपयों का दूसरा नोट सिपाही को देकर कहा, "इकबाल करा लेना। लातों के भूत बातों से नहीं मानते।"

५

दूसरे दिन मुकदमा शेख सलीमुद्दीन की कचहरी में पेश हुआ। रसीला ने आते ही अपना अपराध स्वीकार कर लिया। उसने कोई ननु-नच नहीं की। अपने बचाव के लिए कोई बहाना नहीं बनाया। कोई झूठ न बोला। अगर चाहता तो कह सकता था कि यह सब साज़िश है। मैं इनके यहां नौकरी नहीं करना चाहता था। इन्होंने मुझे फंसाने के लिए जाल बिछाया है। हलवाई का क्या है? उसकी मिठाई इनके यहां नित्य जाती रहती है। वह इनकी न कहेगा तो क्या मेरी कहेगा! मगर उसने यह कुछ न कहा। एक अपराध कर चुका था, दूसरा करने

हंस की चाल

कुछ समय गुज़रा, कानपुर में एक बड़े सुप्रसिद्ध कवि रहते थे, मुंशी ईश्वरसरण रसिक। आयु तो कुछ अधिक न थी, मगर जब लिखने बैठते तो सुन्दरता की नदियां बहा देते थे। उनकी उपमाएं, उनकी शब्द-रचना, उनके अलंकार सब अनूठे थे। लोग उनकी कविताएं पढ़कर तड़प उठते थे। असम्भव था कि कहीं कोई कवि-दरबार हो और उसमें रसिकजी को न बुलाया जाए। उनके एक-एक पद पर श्रोता वाह-वाह करते थे। वह सभा पर मोहिनी डाल देते थे। उनके बाद किसी दूसरे का रंग न जमता था, इसलिए उनकी बारी सबके बाद आती थी। वह किसीके कारखाने में नौकर थे। वेतन भी ज़्यादा न था, केवल चालीस-पैंतालीस पाते थे और इसीपर सन्तुष्ट थे। प्रायः कहा करते, यह धन नहीं तो क्या हुआ, विधाता ने काव्य-धन देने में तो कंजूसी से काम नहीं लिया। अब दुनिया का प्रत्येक पदार्थ एक ही आदमी को कैसे मिल जाए! बाज़ार में निकलते और लोग उन्हें देखकर शहरों में कहते, यह रसिकजी जा रहे हैं, तो आप किसी दिव्य-लोक में पहुंच जाते। उस समय उन्हें ऐसा मालूम होता था, जैसे आकाश में उड़े जा रहे हैं। कीर्ति-मदिरा का नशा कितना तेज़, कितना बस में कर लेनेवाला है!

परन्तु उनको एक बात का बड़ा दुःख था, उनकी जीवन-संगिनी इस साहित्य-कीर्ति की हिस्सेदार न थी। वैसे भागीरथी पर प्राण देते थे। उसे देखकर उनके हृदय-सागर में प्रेम और आनन्द की मौजें उठने

लगती थीं। उनकी मुस्कराहट उनके अंधेरे दिल का दीपक थी। उससे कहते—भागीरथी ! कविता के माधुर्य और लालित्य का सोता तू है। मगर भागीरथी का यह प्रकाशमय सोता ईश्वरसरण के लिए था, उसके अपने लिए नहीं, जैसे दीपक दूसरों को रोशनी देता है। ईश्वरसरण चाहते थे, भागीरथी भी काव्य-रचना करे, उसकी कविताएं भी हिन्दी की उच्चकोटि की पत्रिकाओं में प्रकाशित हों और वह देख-देखकर झूमे। उनके इष्टमित्र कहें, भाई तुम्हारा प्रारब्ध है, जो ऐसी विदुषी स्त्री मिली, वाह-वा क्या खूब लिखती है ! पढ़कर दिल की आंखें खुल जाती हैं। इधर हमारी स्त्रियां हैं कि कभी भूल से एक दोहा भी मुंह से निकल जाए, तो मुंह तकने लगती हैं। ये ख्याल कैसे आनन्दमय थे कैसे सम्मानसूचक ! ईश्वरसरण उस दिन के लिए उत्सुक थे, वह उसके लिए अपना सर्वस्व लुटाने को भी तैयार थे।

मगर भागीरथी कविताएं समझती थी, लिख न सकती थी। उसके पिता को लड़कियां पढ़ाने का चाव था। उन्होंने भागीरथी को हिन्दी की उच्चशिक्षा दी थी। इसके बाद उसे ईश्वरसरण जैसा साहित्यसेवी पति मिला। सोने पर सुहागा हो गया, कुछ ही दिनों में अच्छे-अच्छे कवियों की रचना समझने लगी। उसकी तर्क-शक्ति देखकर रसिकजी भूमि से उछल पड़ते थे। परन्तु अब इसे क्या कहा जाए कि वह कविता समझती थी, कविता लिख न सकती थी। हम हर रोज़ कई चित्र देखते हैं। अच्छे चित्र की प्रशंसा करते हैं, बुरे चित्र पर नाक सिकोड़ लेते हैं। पर हममें चित्र बनानेवालों की संख्या कितनी है ? ईश्वरसरण इस मोटी बात को भी न समझते थे।

२

एक दिन रसिकजी सन्ध्या समय दफ्तर से लौटे तो उनके हाथ में एक मासिक पत्रिका थी। आते ही स्त्री से बोले—"एक बहुत बढ़िया कविता है, देखोगी ?" भागीरथी इस समय धुले हुए कपड़े संवार-संवारकर सन्दूक

में रख रही थी। उसने मुंह फेरकर पति की तरफ देखा और मुस्कराकर उत्तर दिया—"पहले यह कपड़ों की कविता समाप्त कर लूं, फिर वह भी देख लूंगी। कौन-सी पत्रिका है यह ?"

"बीसवीं सदी।"

"आपकी कविता छपी या नहीं।"

"छप गई। मगर मैं तुम्हें एक दूसरी कविता दिखाना चाहता हूं।"

"किसकी है ?"

"कोई स्त्री ब्रजकुमारी 'फूल' है, उसकी।"

भागीरथी ने सन्दूक के एक कोने में नये कपड़ों के लिए जगह बनाते हुए कहा, "नई लेखिका है। यह नाम पहले कभी नहीं सुना।"

"परन्तु कविता बहुत बढ़िया है। देखोगी तो खुश हो जाओगी।"

भागीरथी ने कपड़े वहीं छोड़ दिए और लपककर पत्रिका पति के हाथ से छीन ली। ऐसे चाव से कोई स्त्री आभूषणों के डिब्बे पर भी कम लपकी होगी। भागीरथी ज्यों-ज्यों कविता पढ़ती जाती थी, उसके चेहरे का रंग खिलता जाता था। ईश्वरसरण ने कोट उतारकर खूंटी से लटका दिया और पूछा—

"क्यों श्रीमतीजी ! कैसी कविता है ? बोलो।"

भगीरथी—बहुत बढ़िया ! पढ़कर आंखों के सामने चित्र आ जाता है।

ईश्वरसरण—बस, बस ! मेरी भी यही सम्मति है। अच्छा अगर तुम इन्स्पेक्टर होओ तो इसे कितने नम्बर दोगी ?

भागीरथी ने पत्रिका लपेटकर दोनों हाथ कमर के पीछे कर लिए और बड़ी गम्भीरता से सोचने लगी।

ईश्वरसरण—मगर देखो ! यह ब्रजकुमारी 'फूल' ही की परीक्षा नहीं, तुम्हारा भी इम्तिहान है।

भागीरथी ने अजीब-सा मुंह बनाकर कहा, "मेम साहब की राय में यह लड़की दस में से छः नम्बर पाने के योग्य है।"

ईश्वरसरण—तो बाकी नम्बर क्यों काट लिए ?

भागीरथी—तुम्हारे लिए। और एक और बात भी है, इसे पूरे नम्बर दे देती तो आप फेल हो जाती। तुम कहते, चार सुन्दर शब्द देखकर अवाक् रह गई। अच्छा, अब बैठ जाओ, खड़े कब तक रहोगे।

यह कहकर भागीरथी ने बालपन की सादगी से पति के दोनों हाथ पकड़े और उन्हें कमरे में ले जाकर चारपाई पर बैठा दिया। इसके बाद आप भी उनके पास ही बैठ गई और उनके कन्धे पर सिर रखकर बोली—कविराज जी का दिल इस समय कहां है ?

ईश्वरसरण—बड़ी दूर !

भागीरथी—(बनावटी क्रोध से सिर उठाकर) बड़ी दूर नहीं ? श्रीमती भागीरथीदेवी पास है तो दिल दूर कहां जा सकता है !

पवित्र प्रेम की इस सादगी पर रसिकजी लोट-पोट हो गए। उन्होंने भागीरथी के मुंह की तरफ देखा, फिर उसके कन्धे पर हाथ रखकर कहा, "अब बहुत निकट है।"

भागीरथी ने लजाकर सिर झुका लिया और बोली, "आओ हटो ! तुम बड़े शरारती हो। हम अपनी कविता पढ़ेंगी।"

यह कहकर भागीरथी ने पत्रिका के पन्ने उलटकर देखा, और पति की कविता पढ़ने लगी।

३

एकाएक मुंशीजी ने पत्रिका भागीरथी के हाथ से ले ली और कहा, "तुमने देखा, सम्पादक महाशय ने इस स्त्री की कितनी प्रशंसा की है ?"

भागीरथी—नहीं, मैंने नहीं देखा, क्या लिखा है ?

ईश्वरसरण—सम्पादक महाशय लिखते हैं—

'हम देवी ब्रजकुमारी की यह पहली रचना हिन्दी-संसार के सम्मुख रखते हुए बड़े खुश हैं और हमें अभिमान है कि ऐसी उच्चकोटि की लेखिका का हिन्दी-संसार से परिचय कराने का शुभ अवसर हमें प्राप्त

हुआ है। अगर दिन चढ़ने पर सूरज की पहली किरण देखकर उसके बाद के प्रकाश के सम्बन्ध में भविष्यवाणी की जा सकती है तो यह कहने में हमें ज़रा भी संकोच नहीं कि यह देवी बहुत जल्द हिन्दी-साहित्य-संसार की रानी कहाएगी···।'

भागीरथी—बस, पुरुषों में यही तो दोष है। प्रशंसा करते हैं तो आकाश-पाताल एक कर देते हैं। और इसका कारण केवल यह है कि वह स्त्री है, किसी पुरुष के लिए यह शब्द कभी न लिखे जाते।

ईश्वरसरण—तुम्हारा ख्याल वास्तव में ठीक है।

भागीरथी—कविता बुरी नहीं है। मैं पहले ही प्रशंसा कर चुकी हूं। परन्तु ज़रा अपनी रचना देखो, 'गंगा के घाट पर'—उसके सामने यह क्या चीज़ है! (मुंह बनाकर) अगर दिन चढ़ने पर सूरज की पहली किरण देखकर उसके बाद के प्रकाश·····। जी चाहता है, सम्पादक सामने आ जाए तो मुंह पर थप्पड़ दे मारूं।

ईश्वरसरण—(हंसकर) तुम तो चंडिका बन गईं।

भागीरथी—तुम हंसते हो, मुझे ऐसी बातों पर ज़हर चढ़ जाता है। पहले तगादे कर-कर के कविता मंगवा लेते हैं, फिर अपमान करते हैं। तुम ऐसी पत्रिकाओं में कविता न भेजा करो, कौनसी थैलियां खोल देते हैं।

ईश्वरसरण—भागीरथी! तुम क्यों नहीं लिखतीं। लिखो तो तुम्हारी भी इसी तरह प्रशंसा हो।

भागीरथी—न महाराज! मुझे ऐसी प्रशंसा की ज़रूरत नहीं।

ईश्वरसरण—भागीरथी! अब तुम्हें ना नहीं करने दूंगा। तुम्हें लिखना होगा।

भागीरथी—परन्तु लिखना आता भी तो हो।

ईश्वरसरण—आता क्यों नहीं। जब मुझे पत्र लिखती हो तो उसमें कैसी सुन्दरता, कैसी मोहनी होती है! और भावों का माधुर्य! वाह-वा क्या कहना! बस, यही बात कविता में कह दो।

भागीरथी—यह काम पुरुषों का है, स्त्रियों का नहीं।

ईश्वरसरण—वाह ! स्त्रियों का कैसे नहीं। यह ब्रजकुमारी स्त्री है या नहीं ? कैसा अच्छा लिखती है ?

भागीरथी—मैं तो जानूं, उसके पति ने लिखकर उसके नाम से भेज दी होगी। तुम चाहो, तुम भी लिख दो। मना कर जाऊं तो जो काले चोर की सजा, वह मेरी।

ईश्वरसरण—हंसी छोड़ो। बोलो, लिखोगी या नहीं ?

भागीरथी—तुम लिख दो, मैं नकल करके भेज दूंगी।

ईश्वरसरण—वह शिक्षा मुझे गुरु ने नहीं दी।

भागीरथी—लोग कहेंगे, भागीरथी ब्रजकुमारी से भी बढ़ गई।

ईश्वरसरण—ख्याल में प्रसन्न हो लो।

भागीरथी—सम्पादकीय टिप्पणियां पढ़कर आनन्द आ जाए।

ईश्वरसरण—पहले लिख तो लो, फिर यह भी सोच लेना।

भागीरथी—अरे ! अपने लिए इतना कुछ लिखते हो, क्या थोड़ा-सा मेरे लिए न लिख दोगे ? सोचते होगे, यह मशहूर हो गई तो मुझे कौन पूछेगा ! पर अब मैं तुम्हारा पीछा न छोड़ूंगी।

ईश्वरसरण ने स्त्री की तरफ सरोष आंखों से देखा और सिर झुका लिया।

४

अब भागीरथी के सिर पर एक ही धुन सवार थी। हर समय ईश्वर-सरण से लड़ा करती, तुम कैसे संकुचित हृदय हो, एक कविता भी नहीं तैयार कर देते। बड़ा प्यार जताया करते हैं, मानो मुझसे बढ़कर इन्हें किसीका ख्याल ही नहीं। मगर जरा-सी बात कही है, वह भी नहीं मानते। मैं लिखना जानती तो गिन-गिनकर आधी कविताएं तुम्हारे नाम से लिख देती। मगर तुम मेरा जरा ख्याल नहीं करते। मर्द कैसे स्वार्थी होते हैं ! स्त्रियां उनके लिए अपना तन-मन सब कुछ निछावर

कर देती हैं, उन्हें परवाह ही नहीं। ईश्वरसरण कहते—भागीरथी, तुम पागल हो गई हो क्या ? मुझसे यह काम न होगा। कीर्ति की इच्छा है तो परिश्रम करो, यह क्या कि दुःख सहे भी फाखता और कौआ अंडे खाय। परिश्रम मैं करूं, शोहरत तुम कमा लो। भागीरथी यह सुनती और रोने लगती। हम स्त्री की लाल आंखें देख सकते हैं, पर उसकी सजल आंखें नहीं देख सकते। उस समय हमारा दिल दया का सागर बन जाता है। ईश्वरसरण भी नरम पड़ जाते। सोचते, कैसी मूर्खता की, इसे स्याल न देते तो आज यह कलह न देखनी पड़ती। उन्होंने जिसे कम्बल समझा था, वह रीछ निकला। अब वह कम्बल को छोड़ते थे, कम्बल उन्हें न छोड़ता था। एक तरफ कवि-हठ था, दूसरी तरफ त्रिया-हठ। कई दिन के संग्राम के बाद वही हुआ जो इस नीले आकाश-तले होता आया है। पुरुष का निश्चय स्त्री की इच्छा के सामने पानी-पानी हो गया। बर्फ का टुकड़ा कितना ही कठोर क्यों न हो, सूरज की नर्म और गर्म किरणों के सामने कब तक ठहर सकता है ?

एक वर्ष के बाद भागीरथी का नाम हिन्दी-जगत् में बच्चे-बच्चे की ज़बान पर था। उसीकी कमनीय कृतियां देखकर कवि एक-दूसरे से पूछते—यह कौन है ? कुछ ही महीनों में कहीं से कहीं जा पहुंची। एक वर्ष पहले इसका नाम भी कोई नहीं जानता था, आज चारों ओर इसकी चर्चा है। ब्रजकुमारी का नाम उसके सामने फीका पड़ गया, जैसे सूरज निकलने पर चांद फीका पड़ जाता है। लोग उसकी कविताओं की प्रतीक्षा करते रहते थे। स्त्री-शिक्षा के पक्षपाती कहते, "देखा ! एक स्त्री ने सारे मर्दों के दांत खट्टे कर दिए। क्या अब भी वही पुरानी रट लगाए जाओगे कि स्त्री-जाति को विधाता ने केवल घर के आंगन में काम करने के लिए उत्पन्न किया है ?" विरोधी उत्तर देते, "सच पूछो तो इन कविताओं में धरा ही क्या है ? इसीकी एक कविता लेकर उसके नीचे किसी पुरुष का नाम लिख दो, फिर देखो क्या होता है। कोई बात भी न पूछे। जैसे और साधारण लेख छप जाते हैं, वैसे ही वह भी छप जाए। स्त्री का नाम

ही इन सबसे बड़ा गुण है। और जनाब, हमारा तो यहां तक ख्याल है कि यह किसी मनचले मर्द की करतूत है।"

उधर भागीरथी के पांव भूमि पर न पड़ते थे। जिस पत्र को उठाती उसीमें अपनी प्रशंसा पाती। उस समय उसे ऐसा मालूम होता था, मानो किसीने राज-सिंहासन पर बिठा दिया हो। ईश्वरसरण की दिन-रात खुशामदें करती रहती थी। वह ज़रा-से रूठ जाते तो सौ-सौ तरह से मनाया करती। दूध देनेवाली गाय की लातें भी खानी पड़ती हैं। मगर ईश्वरसरण उससे नाराज़ न होते थे; स्त्री की प्रशंसा पढ़ते तो फूले न समाते। हम अपनी प्रशंसा सुनकर उतने खुश नहीं होते, जितने अपनी स्त्री की प्रशंसा सुनकर खुश होते हैं। पराये के मुंह से उसकी योग्यता का बखान सुनकर हम ब्रह्मानन्द में लीन हो जाते हैं, हम किसी दूसरे प्रकाशपूर्ण लोक में पहुंच जाते हैं। परन्तु कभी-कभी भागीरथी किसी अज्ञात भय से कांप उठती थी। उसे ऐसा मालूम होता था कि मैं आकाश से गिरनेवाली हूं। मेरा काव्य-रहस्य प्रकट हो जानेवाला है। एकान्त में बैठती तो सोचती, कौए ने हंस के पर लगा रखे हैं। इस समय नाचता है, गाता है, प्रसन्न होता है और जंगल के दूसरे पंछी उसे ईर्ष्या की दृष्टि से देखते हैं! मगर इस झूठे सौन्दर्य की आयु कितने दिन है? यह मकर कब तक चलेगा? लेकिन फिर भी वह रसिकजी से तकादे करती थी और अपने लिए लिखा लेती थी. जैसे शराबी शराब को बुरा समझकर भी उसका परित्याग नहीं कर सकता। कीर्ति का नशा शराब के नशे से भी तेज़ है। शराब छोड़ना आसान है, कीर्ति छोड़ना आसान नहीं।

परन्तु भागीरथी कौन है? अभी तक यह रसिकजी को छोड़कर किसीको भी पता न था। उसकी कविता पढ़नेवालों की संख्या हज़ारों तक पहुंच गई थी, पर उसे जाननेवाला कोई भी न था। रसिकजी ने इस बात का पूरा ख्याल रखा था कि भागीरथी का पता किसीको भी मालूम न हो। यहां तक कि सम्पादकों को भी कुछ पता न था। उन्हें कविताएं मिल जाती थीं और वे प्रकाशित कर देते थे। मगर शोहरत देर तक परदे में

में नहीं ठहरती, जिस तरह पंछी का बच्चा पर निकलने पर घोंसले में नहीं रहता। शोहरत के भी पर होते हैं। कुछ देर बाद यह रहस्य प्रकट हो गया कि भागीरथी रसिकजी की स्त्री है। समाचारपत्रों को नई बात मिल गई। मुंशीजी को इस सौभाग्य पर बधाइयां मिलने लगीं। परन्तु वे दिल ही दिल में कांप रहे थे, एक बात खुल गई, क्या दूसरी भी खुल जाएगी ?

५

उन्हीं दिनों में रसिकजी को दफ्तर के काम पर पंजाब की तरफ जाना पड़ा, भागीरथी उदास हो गई। उसकी आंखों में पानी आ गया। प्रेम वियोग से बहुत घबराता है। वियोग को सामने देखकर उसका लहू सूख जाता है। भागीरथी सोचने लगी, अकेली कैसे रहूंगी ? यह वियोग के दिन किस तरह बीतेंगे ? मुन्शीजी का दफ्तर से आने का समय होता तो द्वार पर जा खड़ी होती थी, अब क्या करूंगी ?

मगर नौकरी का मामला था, क्या हो सकता था ? मुंशीजी ने कहा, "थोड़े दिनों की बात है, मैं जल्द लौट आऊंगा।"

भागीरथी—एक प्रण करो, जब जाने दूंगी।

ईश्वरसरण—क्या ?

भागीरथी—यह कि हर शहर से पत्र लिखूंगा और हर रोज़ लिखूंगा। उदास दिल प्रतीक्षा में लगा रहेगा।

ईश्वरसरण—बड़ी बेढब शर्त है, पर खैर, मंजूर। कुछ और ?

भागीरथी—कायस्थ कन्या पाठशाला का वार्षिकोत्सव होनेवाला है। उस दिन मिसेज़ लालबिहारी आई थीं। कहती थीं, उस दिन इनाम तुम बांटोगी। मैंने बहुत कहा कि मैं इस पदवी के योग्य नहीं, मगर वे नहीं मानीं। अब वहां कोई कविता पढ़नी पड़ेगी।

ईश्वरसरण के मुंह पर प्रसन्नता की आभा आ गई, मुस्कराकर बोले, "तो अब प्रधान बनोगी ? तुमने पहले क्यों न बताया ?"

भागीरथी—क्या करूं, जी घबरा रहा है । मिसेज़ लालबिहारीलाल एक नहीं सुनतीं।

ईश्वरसरण—पर दिल में खुश हो रही होगी ।

भागीरथी—मैं झूठ नहीं बोलती । गंगाजी की सौगन्ध, मेरा दिल कांप रहा है। वहां मर्द भी होंगे, कैसे बोलूंगी। परमेश्वर लाज रख ले, यही बड़ी बात है।

ईश्वरसरण—खूब रखेगा। अब तो स्त्रियां व्याख्यान भी देने लगीं, तुम कविता भी न पढ़ सकोगी क्या ? भागीरथी ज़रा सोचो ! स्त्री और पुरुष में कितना भेद है ? हम कई सालों से तपस्या कर रहे हैं, किसीने तमगा भी न दिया, तुम्हारी चार कविताएं प्रकाशित हुईं, तुम प्रधान बनने लगीं !

भागीरथी ने प्रेमपूर्ण आंखों से पति की ओर देखा और कहा, "सच कहते हो, यह सम्मान मेरा है या तुम्हारा ?"

ईश्वरसरण—तुम्हारा है मेरा नहीं, मैं तो भगवान से यह प्रार्थना करता हूं कि मुझे अगले जन्म में स्त्री का जन्म दे और पति कवि हो।

भागीरथी—फिर क्या होगा ?

ईश्वरसरण—प्रधान तो बनेंगे ! अच्छा अब मुझे क्या आज्ञा है ?

भागीरथी—कोई अच्छी-सी कविता भेज देना, ज़रा जल्दी । कहीं ऐसा न हो, तुम भूल जाओ और यहां सारा गुड़ गोबर हो जाए । रूमाल में गांठ बांध लो; फिर न भूलोगे।

ईश्वरसरण—रूमाल में गांठ बांधने की क्या ज़रूरत है । यहां हृदय-पट पर नोट हो गया ?

इसके बाद ईश्वरसरण ने भागीरथी को गले लगाया और बाहर निकल आए। भागीरथी दरवाज़ा पकड़कर खड़ी हो गई, और सजल आंखों से पति की ओर देखती रही।

कुछ दिनों के बाद कविता आ गई, "भविष्य का प्रकाश ।" उसे पढ़कर भागीरथी भूमि से उछल पड़ी । यह कविता साधारण कविता न

थी ! इसमें सुन्दरता थी, इसमें माधुरी थी, इसमें नवीनता थी, इसमें कल्पना थी ! इसमें भाव था, इसमें रस था, और सबसे बढ़कर यह कि इसमें हृदय था। भागीरथी को विश्वास हो गया कि वार्षिकोत्सव के दिन लोग खुश हो जाएंगे और जब यह कविता प्रेस में गई तो साहित्य-संसार चकित रह जाएगा। मेरे नाम से कविताएं बहुत छपी हैं, पर ऐसी अद्‌भुत और अपूर्व कविता आज तक नहीं छपी। यह कविता नहीं, काव्य-जगत् की शोभा है। इस समय उसे पति के महत्त्व का पूरा-पूरा अनुभव हुआ। पता नहीं, किन यत्नों से लिखी होगी, इसके लिए कितनी रात जागे होंगे। ऐसी चीज़ें कौन किसीको देता है ! परन्तु मुहब्बत त्याग की मां है, जहां जाती है, बेटी को साथ ले जाती है। भागीरथी ने मन ही मन में अपने त्यागवीर और उदारहृदय पति को नमस्कार किया और कविता गले से लगा ली।

उत्सव के दिन हाल में तिल धरने को जगह न थी। फर्श, गैलरी, प्लेटफार्म सब भरे हुए थे। इससे पहले पुरुष थोड़ी संख्या में सम्मिलित होते थे, परन्तु इस वर्ष पुरुष स्त्रियों से भी अधिक थे। और यदि स्त्रियों को उठाना सम्भव होता तो जो स्त्रियां आई थीं, पुरुष उनको भी उठा देते। यह सब लोग कविता सुनने नहीं आए थे, लगभग आधे से ज़्यादा संख्या उन महानुभावों की थी, जो केवल इस उद्देश्य से आए थे कि चलो, भागीरथीदेवी को देखने ही चलें। नाम सुना है, शक्ल-सूरत नहीं देखी। देखें, कैसी स्त्री है, जिसकी इतनी प्रशंसा हो रही है।

सहसा एक तरफ से शोर उठा, लोग इधर-उधर देखने लगे। जो पीछे बैठे थे, वे खड़े हो गए। जो खड़े थे वे आगे खिसकने लगे। प्रबन्ध-कर्ताओं ने चिल्ला-चिल्लाकर कहा, "सज्जनो। शांति से बैठे रहो।" मगर कौन सुनता था, खलबली मच गई। कोई कहता था, भागीरथीदेवी आ गई। कोई कहता था, रेला है, बाहर आदमी ही आदमी खड़े हैं, इनको खुली जगह का प्रबन्ध करना चाहिए था। एक बेंच पर बहुत-से आदमी खड़े थे, वह टूट गई। स्त्रियों की तरफ से बच्चे रोने लगे।

एकाएक हाल में सन्नाटा छा गया। लोगों ने देखा कि मिसेज लाल-बिहारीलाल के साथ एक युवा स्त्री कश्मीरी साड़ी पहने आ रही है। उसका सिर झुका हुआ था और वह बड़ी सावधानी से बचा-बचाकर पांव उठाती थी। उसके चेहरे पर विनय थी। परन्तु यह विनय अहंकार से भी अभिमानपूर्ण थी। लोगों ने तालियां पीटकर हर्ष प्रकट किया, "यही भागीरथीदेवी थी।"

पहले प्रस्ताव और इसके बाद अनुमोदन हुआ। भागीरथी ने उठकर प्रधान-पद स्वीकार किया और लड़कियों को इनाम बांटने लगी। इस समय उसके हृदय की जो दशा थी, उसे वही अनुभव कर सकता है, जिसे स्वयं कभी यह सम्मान प्राप्त हो चुका हो, दूसरे लोग उसके मनोभाव को नहीं समझ सकते। आखिर यह कार्यवाही, जो इनाम लेनेवाली बालिकाओं और उनके माता-पिता के सिवाय और किसीको भी रुचिकर न थी, समाप्त हुई और भागीरथीदेवी सम्भाषण के लिए खड़ी हुई। अब उसके चेहरे पर गम्भीरता थी, संकोच न था। उसने चारों तरफ देखा और वही कहना आरम्भ किया, जो ऐसे अवसरों पर हरएक आदमी कहता है—आपने मुझे जो सम्मान प्रदान किया है. मैं वस्तुतः उसके योग्य नहीं। मुझसे योग्य देवियां इसी कानपुर में मौजूद हैं, जिनके सिर के बाल महिला-समाज की सेवा करते-करते सफेद हो गए। मैं आपको किस मुंह से धन्यवाद दूं, जो आपने मिट्टी की चुटकी को मस्तक पर चढ़ा दिया है···

लोगों ने चिल्लाकर कहा, "कविता!"

भागीरथी—मेरे ख्याल में इस समय कविता की कोई आवश्यकता नहीं। बड़ी देर हो गई है।

जन-समूह से आवाजें आईं, "बिल्कुल नहीं। हम देवीजी की कविता सुनकर जाएंगे।"

अब भागीरथी ने कविता निकाली और उसे पढ़ने लगी। लोग मुग्ध हो गए। यह कविता न थी, मोहिनी माया थी, और इसपर भागीरथी

के पढ़ने का ढंग, सोने पर सुहागा था। एक-एक पद पर वाह-वाह का ज़ोर होने लगा। जो न समझते थे, वे भी झूमते थे, कहीं ऐसा न हो, दूसरे लोग उन्हें मूर्ख समझ लें। भागीरथी के दिल में जो-जो भ्रम, जो-जो वहम थे, सब निर्मूल सिद्ध हुए, ऐसी अकथनीय सफलता उसके ख्याल में भी न थी। सब आंखें उसकी तरफ देख रही थीं, सब कान उसकी आवाज़ को सुन रहे थे। भागीरथी अपनी कविता को और भी जोश से, और भी लगन से पढ़ने लगी। हम ज्यों-ज्यों सफलकाम होते जाते हैं, हमारा पुरुषार्थ बढ़ता जाता है।

इतने में उसकी दृष्टि श्रीमती लालबिहारीलाल की तरफ गई। वे कागज़ के टुकड़े को बड़े ध्यान से देख रही थीं। भागीरथी का लहू सूख गया, जैसे फूलों के ढेर में नाग नज़र आए। यह उसके पति का पत्र था, जो उन्होंने पटियाले से कविता के साथ भेजा था, जिसमें उन्होंने अपनी कृति की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी और जिसे भागीरथी की भेंट किया था। भागीरथी को यह कागज़ जुदा करना याद न रहा था। कविता पढ़ने के आवेश में पिन उतर गया और वह पत्र नीचे गिर पड़ा। और अब रहस्य···

भागीरथी का सिर घूमने लगा। उसने जल्दी से कविता समाप्त की और नीचे उतर आई। पुरुष श्रद्धा-भाव से तालियां बजा रहे थे, स्त्रियां आश्चर्य से, 'अपने ही जैसी' मगर 'दूसरी तरह की' एक महिला के चेहरे की तरफ देख रही थीं और भागीरथी का दिल भय, सन्ताप और घृणा से धड़क रहा था। जब लोग चले गए तो वह मिसेज़ लालबिहारीलाल को खींचकर साथ के कमरे में ले गई और आंखों में आंसू भरकर बोली, "मेरी लाज अब तुम्हारे हाथ में है। चाहे रखो, चाहे मिट्टी में मिला दो।"

मिसेज़ लालबिहारीलाल ने वह पत्र भागीरथी को लौटा दिया और कहा, "मेरे मुंह से इस मामले में एक भी शब्द न निकलेगा।"

और उसने अपना वचन पूरा किया। भागीरथी ने लिखना बन्द कर दिया।

६

परन्तु ब्रजकुमारी की कविताएं पूर्ववत् प्रकाशित होती रहीं ! भागीरथी उन्हें देखती थी और ठण्डी आह भरकर रह जाती थी। अब उसके दिल में जलन न थी, जो किसी सच्चे कवि के हृदय में दूसरे कवि को देखकर होती है। उसका स्थान सन्तोष ने ले लिया था, जो हारे हुए जुआरियों का अन्तिम धन है। यह सन्तोष पर-कटे पक्षियों के समान न उड़ता, न उड़ सकता है। यह नीले आकाश में उड़ते हुए दूसरे पक्षियों की ओर देखता है और चुपचाप गर्दन झुका लेता है। धीरे-धीरे भागीरथी को सौंदर्य और गीत के इस संसार की याद भी भूल गई। अब वह फिर वही घर के आंगन में घर का काम करनेवाली भागीरथी थी।

एक दिन उससे मिलने को एक लड़की आई। अठारह-उन्नीस साल की आयु होगी। आंखों में मुस्कराहट थी, चेहरे पर तेज। भागीरथी ने सोचा, किसी स्कूल में पढ़ती होगी। बड़े आदर से बोली, "आओ बहन !"

लड़की ज़ीने में ठिठककर खड़ी थी। भागीरथी के वचन सुनकर उसे भी बोलने का साहस हुआ।

उसने धीरे से कहा, "मुझे भागीरथीदेवी से मिलना है, लखनऊ से आई हूं।"

भागीरथी—तो ऊपर आइए, मैं ही भागीरथी हूं।

लड़की एक पांव उठाकर फिर रुक गई। किसीके घर पहली बार जाकर हमारे पैर नहीं उठते, न मुंह से बात निकलती है। लड़की ने संकोच-भाव से कहा, "मैं ब्रजकुमारी हूं। आपके दर्शन को आई हूं।"

और दूसरे क्षण में भागीरथी ने ब्रजकुमारी को गले से लगा लिया, जैसे दो बिछुड़ी हुई सखियां मिली हों। इसके बाद भागीरथी उसे बड़े आदर से अन्दर ले गई और चारपाई पर बिठाकर इधर-उधर की बातें करने लगी। घर-बार का परिचय हो चुका, तो भागीरथी ने कहा, "बहन ! तुम शायद विश्वास न करो, मगर मुझे तुम्हारी कविताएं बहुत

के पढ़ने का ढंग, सोने पर सुहागा था। एक-एक पद पर वाह-वाह का ज़ोर होने लगा। जो न समझते थे, वे भी झूमते थे, कहीं ऐसा न हो, दूसरे लोग उन्हें मूर्ख समझ लें। भागीरथी के दिल में जो-जो भ्रम, जो-जो वहम थे, सब निर्मूल सिद्ध हुए, ऐसी अकथनीय सफलता उसके ख्याल में भी न थी। सब आंखें उसकी तरफ देख रही थीं, सब कान उसकी आवाज़ को सुन रहे थे। भागीरथी अपनी कविता को और भी जोश से, और भी लगन से पढ़ने लगी। हम ज्यों-ज्यों सफलकाम होते जाते हैं, हमारा पुरुषार्थ बढ़ता जाता है।

इतने में उसकी दृष्टि श्रीमती लालबिहारीलाल की तरफ गई। वे कागज़ के टुकड़े को बड़े ध्यान से देख रही थीं। भागीरथी का लहू सूख गया, जैसे फूलों के ढेर में नाग नज़र आए। यह उसके पति का पत्र था, जो उन्होंने पटियाले से कविता के साथ भेजा था, जिसमें उन्होंने अपनी कृति की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी और जिसे भागीरथी की भेंट किया था। भागीरथी को यह कागज़ जुदा करना याद न रहा था। कविता पढ़ने के आवेश में पिन उतर गया और वह पत्र नीचे गिर पड़ा। और अब रहस्य···

भागीरथी का सिर घूमने लगा। उसने जल्दी से कविता समाप्त की और नीचे उतर आई। पुरुष श्रद्धा-भाव से तालियां बजा रहे थे, स्त्रियां आश्चर्य से, 'अपने ही जैसी' मगर 'दूसरी तरह की' एक महिला के चेहरे की तरफ देख रही थीं और भागीरथी का दिल भय, सन्ताप और घृणा से धड़क रहा था। जब लोग चले गए तो वह मिसेज़ लालबिहारीलाल को खींचकर साथ के कमरे में ले गई और आंखों में आंसू भरकर बोली, "मेरी लाज अब तुम्हारे हाथ में है। चाहे रखो, चाहे मिट्टी में मिला दो।"

मिसेज़ लालबिहारीलाल ने वह पत्र भागीरथी को लौटा दिया और कहा, "मेरे मुंह से इस मामले में एक भी शब्द न निकलेगा।"

और उसने अपना वचन पूरा किया। भागीरथी ने लिखना बन्द कर दिया।

६

परन्तु ब्रजकुमारी की कविताएं पूर्ववत् प्रकाशित होती रहीं ! भागीरथी उन्हें देखती थी और ठण्डी आह भरकर रह जाती थी। अब उसके दिल में जलन न थी, जो किसी सच्चे कवि के हृदय में दूसरे कवि को देखकर होती है। उसका स्थान सन्तोष ने ले लिया था, जो हारे हुए जुआरियों का अन्तिम धन है। यह सन्तोष पर-कटे पक्षियों के समान न उड़ता, न उड़ सकता है। यह नीले आकाश में उड़ते हुए दूसरे पक्षियों की ओर देखता है और चुपचाप गर्दन झुका लेता है। धीरे-धीरे भागीरथी को सौंदर्य और गीत के इस संसार की याद भी भूल गई। अब वह फिर वही घर के आंगन में घर का काम करनेवाली भागीरथी थी।

एक दिन उससे मिलने को एक लड़की आई। अठारह-उन्नीस साल की आयु होगी। आंखों में मुस्कराहट थी, चेहरे पर तेज। भागीरथी ने सोचा, किसी स्कूल में पढ़ती होगी। बड़े आदर से बोली, "आओ बहन !"

लड़की ज़ीने में ठिठककर खड़ी थी। भागीरथी के वचन सुनकर उसे भी बोलने का साहस हुआ।

उसने धीरे से कहा, "मुझे भागीरथीदेवी से मिलना है, लखनऊ से आई हूं।"

भागीरथी—तो ऊपर आइए, मैं ही भागीरथी हूं।

लड़की एक पांव उठाकर फिर रुक गई। किसीके घर पहली बार जाकर हमारे पैर नहीं उठते, न मुंह से बात निकलती है। लड़की ने संकोच-भाव से कहा, "मैं ब्रजकुमारी हूं। आपके दर्शन को आई हूं।"

और दूसरे क्षण में भागीरथी ने ब्रजकुमारी को गले से लगा लिया, जैसे दो बिछुड़ी हुई सखियां मिली हों। इसके बाद भागीरथी उसे बड़े आदर से अन्दर ले गई और चारपाई पर बिठाकर इधर-उधर की बातें करने लगी। घर-बार का परिचय हो चुका, तो भागीरथी ने कहा, "बहन ! तुम शायद विश्वास न करो, मगर मुझे तुम्हारी कविताएं बहुत

ही पसन्द हैं। इन्हें पढ़कर मैं किसी दिव्य-लोक में पहुंच जाती हूं। पुरुष-समाज समझता था, यह साहित्य-क्षेत्र केवल उनके लिए है, तुमने उनका खयाल बदल दिया। तुम धन्य हो, तुमने स्त्री-जाति की लाज रख ली।"

ब्रजकुमारी—यह आपकी सज्जनता है, वरना आपके सम्मुख मैं कुछ भी नहीं। आपकी कविताएं आज भी याद आती हैं तो तबीअत हरी हो जाती है। ज़रा हाथ लाना, चूम लूं।

भागीरथी—(लजाकर) मगर मैंने तो अब लिखना ही छोड़ दिया है।

ब्रजकुमारी—पर क्यों, यही पूछने के लिए तो मैं आई हूं।

भागीरथी—अब क्या बताऊं!

ब्रजकुमारी—कहीं रसिकजी ने रोक तो नहीं दिया? शायद सोचते हों, पार्वती के सामने महादेव को कौन पूछेगा?

भागीरथी—वे ऐसे स्वामी नहीं। उन्हें जितना आनन्द मेरी कविताएं पढ़कर आता है, उतना आनन्द अपनी कविताओं में भी नहीं आता।

ब्रजकुमारी—तो क्या माता-पिता बुरा मानते हैं!

भागीरथी—बिलकुल नहीं। तुम्हारे लखनऊ ही में तो रहते हैं। कभी जाकर मिलो तो तुम्हें सिर-आंखों पर बिठा लें। वे तो स्वयं कहते हैं कि स्त्रियों को साहित्य-संसार से परे रखना देश के साथ सबसे बड़ा अन्याय करना है।

ब्रजकुमारी—तो फिर इस मौन-धारण का कारण क्या है?

भागीरथी चुप हो गई। सोचती थी, क्या कहूं, क्या न कहूं। पहले सोचा, साफ-साफ कह दूं, यहां लिखना जानता ही कौन है! वे सब झूठ के महल थे। वे लिखते थे, मैं अपने नाम से भेज देती थी। चार दिन चमड़े के सिक्के चल गए। अब सदा को वही मकर कैसे चलता रहे! मगर फिर ख्याल आया, इसके दिल में मेरी कितनी श्रद्धा है! बता

दूं तो मेरी इज्ज़त दो कौड़ी की भी न रहेगी। इसे अचरज होगा। यह चौंक उठेगी। यह सोचेगी, कैसी नीच स्त्री है, जग को धोखा देती रही। इस समय कैसे गर्व से बैठी हूं। यह कहकर सिर झुक जाएगा। सत्य-भाषण कितना कठिन है ! भागीरथी ने ब्रजकुमारी की ओर देखा और उत्तर दिया, "बहन ! दुनिया के धन्धे ही कुछ करने नहीं देते।"

ब्रजकुमारी—तुम्हारा यह उत्तर सन्तोषजनक नहीं। मर्द समय निकाल लेते हैं।

भागीरथी—और यदि मैं कहूं कि काव्य-जगत् से जी ऊब गया, तो फिर ?

ब्रजकुमारी—जी कैसे ऊब गया ? कविता वह वस्तु नहीं, जिससे कवि का जी ऊब जाए। हरे-भरे जंगल, रमणीक घाटियां, चन्द्रमा की सुशीतल चांदनी, झरनों का मनोहर दृश्य, बाल्यावस्था के सुनहरे दिन, पंछियों का कलरव, इनमें से क्या कोई भी वस्तु ऐसी है जिससे किसी प्रकृति-उपासक का जी ऊब जाए ? फिर कैसे सम्भव है, किसीका दिल काव्य-जगत् से, जहां मन को मोह लेनेवाले ये तमाम मंजुल पदार्थ चप्पे-चप्पे पर उपस्थित हैं, ऊब जाए ? नहीं बहन ! यह असम्भव है। यह कभी नहीं हो सकता। यह कभी नहीं होता। मुझसे प्रतिज्ञा करें कि अब लिखेंगी। आपका न लिखना स्त्री-जाति की अकथनीय हानि है।

ब्रजकुमारी बोलती जाती थी, और भागीरथी उसके मुंह की तरफ टकटकी बांधकर देख रही थी। भागीरथी को अब तक यही सन्देह था कि यह भी किसीसे लिखाती होगी। परन्तु सुधा और संगीत के चार शब्द सुनकर उसकी सम्मति बदल गई। यह बनावट न थी, उसके सुन्दर हृदय का उद्‌गार था। भागीरथी को विश्वास हो गया कि यह वास्तव में कवि है। उसने सिर झुकाकर कहा, "तुम तो बातचीत में भी कविता करती हो। तुमने दो शब्द बोले, मुझे कविता का स्वाद आ गया।"

ब्रजकुमारी—जब लिखना आरम्भ किया तो एक-एक शब्द के लिए

घण्टों परेशान रहना पड़ता था। उस समय मालूम होता था, मानो यह बेल मंडे न चढ़ेगी। परन्तु अब तो पद के पद सामने आ जाते हैं।

थोड़ी देर बाद ब्रजकुमारी फिर आने की प्रतिज्ञा करके चली गई, मगर इसके अन्तिम शब्द भागीरथी के कानों में गूंज रहे थे। सोचती थी, अगर यह लड़की लगातार परिश्रम से इस पदवी को पहुंच सकती है तो क्या मैं ही गई-गुज़री हूं। वे तो कई बार कह चुके कि तुममें वह वस्तु है जो कविता का प्रधान अंग है। यत्न करो तो सफल होना आवश्यक है। मगर मैंने उलटा मार्ग पकड़ा और आज·····

भागीरथी को अपनी आयु का भूला और भुलाया हुआ युग याद आ गया। वही संगीत, वही सुधा, वही माधुरी, वही अनन्त यौवन, वही न मरनेवाला सौंदर्य, न समाप्त होनेवाला वसन्त, न मुरझाने वाले फूल। वह उस दुनिया में जाने को छटपटाने लगी, जैसे बालक को मेले का दृश्य याद आ जाए। भागीरथी बहुत देर तक चुपचाप बैठी सोचती रही। इसके बाद उसने सुदृढ़ संकल्प से हाथों की मुट्ठियां कस लीं और ऊंची आवाज़ से कहा, "आज तक मैं कविताएं लिखवाती थी, अब स्वयं लिखूंगी।"

रसिकजी साथ की कोठरी में थे। यह शिवसंकल्प सुना तो बाहर निकल आए और हंसकर बोले, "तथास्तु !"

भागीरथी ने लजाकर सिर झुका लिया।

काया-पलट

गाड़ी ने सीटी दी और धीरे-धीरे चलने लगी।

ड्योढ़े दर्जे के एक ज़नाने डिब्बे में बैठी हुई रक्षा ने घूंघट की आड़ से बाहर की तरफ देखा और दीर्घ निश्वास लिया। प्रातःकाल गांव छूटा था, अब ज़िला भी छूट गया। रक्षा ने नीचे का होंठ दांतों-तले दबाकर सिर झुका लिया और सोचने लगी, देखें अब फिर कब आना हो। इस समय बाप आंगन में बैठा होगा। मां रसोईघर में होगी। भाई खेल रहे होंगे। एक तरफ गऊ बंधी होगी। उसको ऐसा मालूम हुआ जैसे बाप ने घड़ी निकालकर समय देखा है और कहा है, अब रक्षा गाड़ी में होगी। फिर उसको ऐसा मालूम हुआ कि मां की आंखें सजल हो गई हैं और वह दुपट्टे के आंचल से पोंछ रही है। रक्षा को घर की एक-एक बात याद आकर व्याकुल करने लगी। चलते समय मां ने किस तरह उसे गले लगाकर प्यार किया था? किस तरह फूट-फूटकर रोई थी? जिस समय उसने रक्षा के पति से कहा : बेटा! अब यह तुम्हारे सुपुर्द है, हमारा अधिकार आज से समाप्त हुआ, उस समय उसकी आवाज़ किस ब्रह कांप रही थी? उसने कैसे हृदयग्राही शब्दों में कहा था : हमने इसे बेटों के समान पाला है, इसका दिल न दुखाना। ये बातें याद कर-करके रक्षा का दिल भर आया। उसने अपना सिर गाड़ी के साथ लगा लिया और रोने लगी।

गाड़ी तेज़ हो गई थी। वृक्ष, खेत, तार के खम्बे इस तरह उड़े जाते

थे, जैसे कोई अपने प्यारे से मिलने जा रहा हो। रक्षा ने अपने दिल को संभाला और घूंघट का एक कोना थोड़ा-सा उठाकर इधर-उधर देखा। डिब्बे में केवल एक ही स्त्री और थी। बीस-बाईस वर्ष की आयु होगी, गोरा रंग, गोल चेहरा, लम्बी गर्दन। शक्ल-सूरत से रोआब टपकता था। इतने में उसकी आंखें इधर-उधर उठ गईं। रक्षा चौंक पड़ी, यह सावित्री थी, उसके गांव की रहनेवाली। उसका विवाह हुए चार ही वर्ष हुए थे, मगर इतने ही थोड़े समय में वह कितनी बदल गई थी! उसे देखकर किसीको ख्याल भी नहीं हो सकता था कि वह गांव की रहनेवाली होगी। चेहरे पर कैसी गम्भीरता थी, आंखों में कैसी ज्योति, जैसे कोई रानी हो! रक्षा उसे थोड़ी देर चुपचाप देखती रही। इसके बाद उठकर उसके पास चली गई और बोली, "वाह बहन! इतनी जल्दी भूल गई! पहचानती भी नहीं।"

सावित्री ने उसकी तरफ देखा और उसे गले लगाकर बोली, "अरी मेरी रक्षा! तू कहां से आ गई! उस कोने में जो पार्सल पड़ा था, क्या तू उसीमें से निकली है! आ, एक बार फिर गले मिल लें। (गले मिलने के बाद) वाह रे मेरे पार्सल! तू किधर जा रही है?"

रक्षा--तुम्हारे पार्सल का ब्याह हो गया।

सावित्री--यह तो साफ दिखाई दे रहा है, वरना जंगल की यह बंदरिया तो मुंह छिपाकर इस तरह बैठनेवाली न थी। मालूम होता है, पहली बार जा रही हो।

रक्षा—हां बहन, पहली बार। ब्याह तो दो साल हुए, हो गया था, गौना अब हुआ है।

सावित्री—(मुस्कराकर) कहां ब्याह हुआ है?

रक्षा—(सिर झुकाकर धीरे से) स्यालकोट।

सावित्री—बहनोई जी क्या करते हैं?

रक्षा—लाहौर में नौकर हैं।

सावित्री—लाहौर में! (मुस्कराकर) तब तो प्रायः मुलाकात

होती रहेगी। हम भी वहीं रहते हैं। बहनोई जी कैसे हैं, बदसूरत तो नहीं ?

रक्षा—(सिर झुकाकर) मुझे क्या मालूम ? मैंने उन्हें देखा थोड़ा है !

सावित्री—और जो वे कहीं खो जाएं तो क्या करो ? कैसे ढूंढ़ो ?

रक्षा—तुम्हें बुलवा भेजूं और क्या करूं ? आओगी न !

सावित्री—श्रद्धा से बुलाओगी, तो दौड़ती हुई आऊंगी।

रक्षा—खैर, तुम अपनी सुनाओ। क्या हाल है ?

सावित्री—बहन ! परमात्मा की कृपा से कोई तकलीफ नहीं। वकालत करते हैं, तीन-चार सौ रुपया आ जाता है। स्वभाव इतना मीठा है कि तुमसे क्या कहूं। जब देखो, मुंह गुलाब के समान खिला हुआ है। खफा होना तो जानते ही नहीं। मुझे पूरी-पूरी स्वतन्त्रता दे रखी है। कहीं जाऊं-आऊं, जरा ऐतराज नहीं करते।

रक्षा—तो क्या तुम बाज़ारों में घूमती फिरती हो मेम साहब बनकर ?

सावित्री—(मुस्कराकर) तुम्हें शायद मालूम नहीं, वे परदा-प्रथा के घोर विरोधी हैं। (बक्स से एक पुस्तक निकालकर) यह देखो, उन्होंने यह पुस्तक लिखी है। इसमें उन्होंने सिद्ध कर दिया है कि परदा मूर्खता के समय की प्रथा है और स्त्रियों पर सबसे बड़ा जुल्म है।

रक्षा—तो यह कहो, तुमको भी अंग्रेज़ों की हवा लग गई।

सावित्री—मैं तो पहले ही इसके विरुद्ध थी।

रक्षा—(पुस्तक का एक पन्ना उलटकर) तो नंगे मुख बाज़ारों में निकलते हुए तुम्हें लाज नहीं आती ? अपना आदमी देख ले तो क्या कहे ? मैं तो मर जाऊं, जब भी यह निर्लज्जता स्वीकार न करूं। तुम दोनों हाथ में हाथ डालकर जाते होगे तो लोग हंसते होंगे।

सावित्री--तुम्हें एक और बात सुना दूं, उन्होंने एक सभा स्थापित की है, जिसका एकमात्र उद्देश्य यह है कि इस प्रथा को उठा दिया जाए। पंजाब के कई शहरों में उनके व्याख्यान हो चुके हैं। अगले साल स्यालकोट भी आएंगे। यदि कहो तो मैं भी चली जाऊं। मगर एक शर्त है।

रक्षा—क्या ?

सावित्री--तुम्हें व्याख्यान की समाप्ति पर उठकर कहना होगा कि परदा बुरी प्रथा है, और मैं आज से इसे प्रणाम करती हूं।

रक्षा—मुझसे यह आशा न रखो। यदि केवल स्त्रियों की सभा हो तो मैं तुम्हारी वह गति बनाऊं कि उठकर भाग जाओ। एक मिनट भी न ठहरो।

सावित्री—बड़ी तीसमारखां हो। सभा में खड़ा कर दें तो पसीना आ जाए, ज़बान न खुले। बल्कि मेरा तो ख्याल है, थर-थर कांपने लगो।

रक्षा ने ज़ोर से हंसकर कहा, "बहन, यह तो सोलह आने ठीक है। मगर क्या तुम वहां भी ताड़-ताड़ कर बोलती जाओ ?"

सावित्री--हर्ज क्या है ? कोई मुंह में थोड़ा ही डाल लेगा ?

रक्षा—परन्तु मैं तो एक शब्द भी न बोल सकूं। बोलना चाहूं, जब भी मुंह न खुले। आदमी देखकर ही घबरा जाऊं।

सावित्री--और यह परदे का सबसे बुरा परिणाम है। यह स्त्री-जाति को बोदा बना देता है। इससे उनका साहस मर जाता है। उनकी वीरता नष्ट हो जाती है। यही कारण है कि यदि किसी खतरे में पड़ जाएं तो मर जाएंगी, जान दे देंगी, मगर उनसे इतना न होगा कि डटकर खड़ी हो जाएं या शोर ही मचा दें।

रक्षा—और तुम क्या करो ?

सावित्री—कोई टेढ़ी आंखों से भी देख जाए, तो जूते मार-मारकर सीधा कर दूं।

रक्षा—कहना आसान है पर समय पर किसीकी भी हिम्मत नहीं पड़ती। हाथ नहीं उठते।

सावित्री—अब अपने मुंह से क्या कहूं ; हां, यदि समय आए तो दिखा दूं कि हाथ उठते हैं या नहीं। अच्छा, तो हमारे घर के सब लोग तो राज़ी-खुशी हैं न ?

रक्षा—बिल्कुल।

सावित्री—(गाड़ी रुकते देखकर) वज़ीराबाद आ गया। तुम्हें यहां उतरना होगा। मैं तो सीधी लाहौर जाऊंगी। लो, खत लिखना, मेरा पता पुस्तक में देख लेना।

रक्षा अपने कपड़े ठीक करके खड़ी हो गई और मुंह पर घूंघट खींच लिया। सावित्री यह देखकर मुस्कराई और बोली, "स्यालकोट आऊं या न आऊं ?"

रक्षा—न क्यों आओ, ज़रूर आओ। मैं अपना पता लिख भेजूंगी।

इतने में गाड़ी एक झटके के साथ खड़ी हो गई। सावित्री ने कहा, "मगर मेरी शर्त याद है न—भरी सभा में यह कहना होगा, परदा बुरा।"

रक्षा—(धीरे से) पहले तुम किसीको सीधा करके तो दिखा दो, फिर मैं भी कह दूंगी परदा बुरा, बल्कि परदे को दूर ही हटा दूंगी।

और बात पूरी भी न होने पाई थी कि रक्षा का पति गाड़ी के सामने आकर खड़ा हो गया। रक्षा ने घूंघट और भी नीचे खींच लिया और गाड़ी से नीचे उतर गई।

सावित्री ने हंसकर कहा, "कहीं गिर न जाइयो।"

सहसा कई स्त्रियां कमरे में आ गईं। सावित्री देखती रह गई।

उधर रक्षा लम्बा घूंघट निकाले मुसाफिरों के रेले में गिरती-पड़ती अपने पति के पीछे रवाना हुई। युवक पति भीड़ को दोनों हाथों से इधर-उधर हटाते हुए आगे बढ़ा जाता था। वह गरीब कभी कुली की तरफ देखता था, जो उसका असबाब उठाए आगे-आगे चल रहा था, कभी स्त्री की तरफ देखता था जो पीछे-पीछे आ रही थी।

२

सहसा रक्षा के मुंह से हल्की-सी चीख निकल गई। उसने बायें हाथ से घूंघट को थोड़ा-सा ऊंचा उठाकर देखा, परन्तु उसे अपना पति कहीं दिखाई न दिया। किधर चले गए? अभी तो आगे-आगे जा रहे थे। मैं बराबर पीछे-पीछे चल रही हूं। कहीं एक मिनट भी नहीं रुकी। फिर कहां गायब हो गए? कहीं पीछे तो नहीं रह गए। रक्षा ने मुड़कर पीछे देखा, मुसाफिर दौड़ते हुए आ रहे थे। हरएक को जल्दी थी कि कहीं ऐसा न हो, गाड़ी निकल जाए, वे रह जाएं। मुसाफिरों की इस बाढ़ में रुकना आसान न था। रक्षा कहीं से कहीं जा पहुंची। तब वह हिम्मत करके भीड़ से बाहर निकली और सिर झुकाकर एक तरफ खड़ी हो गई। उसे आशा थी, पति खोज रहा होगा, मुझे देखकर इसी ओर चला आएगा। परन्तु कई मिनट बीत गए और उधर कोई भी न आया। रक्षा घबरा गई। क्या करे? अपने पति को कैसे ढूंढ़े? उसने अभी उसे देखा भी न था, न उसके वस्त्र पहचानती थी। उसे केवल यह मालूम था कि पति बादामी रंग का बूट पहने हैं। देखते-देखते कई आदमी बूटों वाले आए और तेज़ी से निकल गए, रक्षा के पास कोई भी न ठहरा। सारी गाड़ी में आदमी भरे थे। परन्तु रक्षा का आदमी कहां था? इतने में गाड़ी ने सीटी दी और इसके बाद चलने लगी। रक्षा को ऐसा मालूम हुआ जैसे यह गाड़ी नहीं जा रही, उसके प्राण जा रहे हैं, जैसे अब उसके लिए बचाव का कोई उपाय नहीं रहा है। देखते-देखते प्लेटफार्म खाली हो गया। कुली और खोंचेवाले भी दूसरे प्लेटफार्म पर चले गए। अभी वहां कितनी भीड़ थी, कितन शोर था, कान पड़ा शब्द सुनाई न देता था, मगर अब वहां सिवाय एक बिछुड़ी हुई नव-विवाहिता युवती के कोई भी न था। रक्षा ने दीवार की ओर मुंह फेर लिया और अपने दुर्भाग्य पर रोने लगी।

सन्ध्या समय रेलवे का एक बाबू उधर से गुज़रा। वह ड्यूटी समाप्त करके अपने घर जा रहा था। रक्षा को देखकर ठिठक गया। यह युवती

कौन है ? कोई पुरुष भी निकट नहीं। सारा प्लेटफार्म खाली है, अकेली क्या कर रही है ? एकाएक याद आया, मैंने इसे दुपहर को भी यहां देखा था, उस समय भी कोई साथ न था। ज़रूर यह गाड़ी से रह गई है। बाबू धीरे-धीरे आगे बढ़ा। रक्षा ने उसके पांव की तरफ देखा ; शायद बादामी बूटों वाला आ गया हो। परन्तु ऐसे भाग्य कहां ? रक्षा ने ठंडी आह भरी और फिर सिर झुका लिया।

बाबू—(रक्षा को सिर से पांव तक देखकर) तुम यहां खड़ी क्या कर रहा हो ?

रक्षा ने घूंघट और भी नीचे खींच लिया और उत्तर न दिया।

बाबू—तुम्हारे साथ कोई मर्द भी है या नहीं ?

रक्षा ने सिर के इशारे से कहा, "नहीं।"

बाबू की आंखें चमकने लगीं, सिगरेट का कश लगाकर बोला, "तो तुम यहां अकेली कैसे आ गई ? कहां से आ रही हो ?"

रक्षा ने बहुत ही धीरे से उत्तर दिया, "गुजरात से।"

बाबू—टिकट कहां है, दिखाओ, है या नहीं ?

रक्षा को ऐसा मालूम हुआ जैसे मुंह सूख गया है, जैसे जीभ तालू से चिमट गई है। उसने बोलना चाहा मगर शब्द गले में फंस गए। इस समय ख्याल आया, कल आराम से अपने घर बैठी थी ; आज···। रक्षा का गला रुंध गया।

बाबू—(ज़रा सख्ती से) तुम्हारा टिकट कहां है ? बोलती हो या नहीं।

रक्षा थर-थर कांपने लगी, बोली, "मुझपर कृपा कीजिए, भगवान आपका भला करेगा।"

बाबू—(रोआब से) टिकट लाओ, टिकट।

रक्षा—(सिसकियां लेकर) टिकट तो उनके पास है।

बाबू—तो उनको बुलाओ, कहां हैं ?

रक्षा ने ठण्डी आह भरी और कहा, "अब बाबूजी, मुझे क्या मालूम

कहां हैं ? भीड़ में साथ छट गया, फिर पता ही नहीं चला कि कहां चले गए।"

बाबू—अजीब बात है कि पति अपनी स्त्री को यों छोड़ जाए। पर खैर, हमें इससे क्या ? किराया दो।

बिल्ली के पंजे में फंसकर चूहे की भी ऐसी दशा न होती होगी जो इस समय रक्षा की थी। ख्याल आया, कदाचित् यहां सावित्री ही होती।

बाबू ने चारों तरफ देखा, बिल्कुल सुनसान था। तब उसने रक्षा के पास खिसककर धीरे से कहा, "कहो तो अपने पास से किराया देकर रसीद काट दूं। क्या हर्ज है ! हां, एक बार मुस्कराकर कह दो। हमारा दिल इतने ही में खुश हो जाएगा।"

रक्षा के कानों में मानो किसीने गर्म सीसा उंड़ेल दिया। वह छोटी थी, परन्तु मूर्खा न थी। सब कुछ समझती थी। उसका जी चाहता था, उस पिशाच का मुंह नोच ले, अगर बस चले तो गर्दन मरोड़ दे। मगर क्रोध होते हुए भी उसके हृदय में हिम्मत न थी। निर्बल को क्रोध चढ़ता है तो रोता है। इससे अधिक वह और कर भी क्या सकता है ? रक्षा भी रोने लगी।

३

एकाएक बाबू चौंक पड़ा। प्लेटफार्म के दूसरे सिरे पर कोई स्त्री आ रही थी। थोड़ी देर में वह आकर सामने खड़ी हो गई ! रक्षा को हौसला हो गया, उसने उसके कान के पास मुंह ले जाकर कहा, "बहन ! मुझे बचाओ। यह दुष्ट···"

इसके आगे वह कुछ न कह सकी, परन्तु स्त्री ने सब कुछ समझ लिया। उसकी आंखों से आग की चिंगारियां निकलने लगीं। उसने बाबू को क्रोध-पूर्ण आंखों से देखा और कहा, "तुम्हारी अपनी मां-बहन कोई है, या नहीं ?"

रक्षा उछल पड़ी : यह तो सावित्री है। उसकी जान में जान आ गई,

जैसे डूबते हुए को किनारा हाथ आ जाए। अब उसे कोई भय, कोई आशंका न थी। पहले सोचती थी, घर कैसे पहुंचूंगी, अब यह भी चिन्ता न थी। इस समय वह अपने-आपको ऐसी सुरक्षित समझती थी, जैसे अपने घर में खड़ी हो, जैसे मां की गोदी में बैठी हो।

सावित्री ने बाबू से डांटकर फिर पूछा, "तुम्हारे घर में मां-बहन कोई है या नहीं, जो भले घर की बेटियों को तंग करते हो ?"

बाबू पर रोआब छा गया। ज़रूर यह किसी बड़े घर की स्त्री है, अजब नहीं, पढ़ी-लिखी भी हो। वरना ऐसी निर्भयता से कभी बात न करती। सोचने लगा, कैसे छुटकारा हो ? थोड़ी देर बाद बोला, "मैंने तो केवल इतना ही कहा था कि या टिकट दिखाओ, या किराया दो। इससे ज़्यादा एक शब्द भी नहीं कहा, मगर यह इसीपर रोने लगी।"

सावित्री ने रक्षा के मुंह के पास कान ले जाकर पूछा, "किराया ही मांगता था, या कुछ और कहता था।"

रक्षा ने सावित्री के कान में बहुत ही धीरे से कहा, "कहता था ज़रा मुस्करा के दिखा दो तो तुम्हारा किराया मैं दे दूं।" यह कहकर वह फिर रोने लगी।

सावित्री ने यह सुना तो उसकी आंखों में खून उतर आया ; बोली, "तुम्हारा नाम क्या है ?"

बाबू—तुम मेरा नाम पूछनेवाली कौन हो ?

सावित्री—(दांत पीसकर) मैं कोई हूं इससे क्या ? तुम अपना नाम बताओ।

बाबू के देवता कूच कर गए। मगर साहस करके बोला, "वाह चली है मुझको धमकाने, उससे नहीं कहती कि बिना टिकट के गाड़ी पर क्यों सवार हुई थी ?"

सावित्री ने आगे बढ़कर अपना हाथ उसकी गर्दन पर रख दिया और उसे झंझोड़कर बोली, "अपना नाम बताओगे या नहीं ? (रोआब से) बोलो, तुम्हारा नाम क्या है, मैं तुम्हारी रिपोर्ट करूंगी।"

जब हम निराश होते हैं तो हममें साहस आ जाता है। बाबू भी निराश होकर दिलेर हो गया। उसने सावित्री का हाथ परे हटाकर कहा, "खबरदार ! मैं तरह दिए जाता हूं, तुम तेज़ होती जा रही हो। अगर मैंने कुछ कह दिया, तो तुम्हारी आबरू मिट्टी में मिल जाएगी।"

अब सावित्री से सहन न हो सका। एक क्षण में उसने अपने पांव से जूता निकालकर बाबू के सिर पर दो-चार जमा दिए। यह कोलाहल सुनकर स्टेशन के दो-चार और बाबू भी कुछ दूरी पर आ खड़े हुए थे। वह हैं-हैं करते ही रह गए और बाबू साहब की कपाल-क्रिया हो गई। लड़ाई में जो पहले लगा दे वही जीत जाता है, बाबू किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। वह बौखला-सा गया था। उससे इतना भी न हुआ कि सावित्री को परे ही धकेल दे। जब जूते पड़ चुके तो दूसरे बाबुओं ने आकर बीचबचाव कर दिया। एक ने कहा, "आपने जूते मारने में ज़्यादती की, वैसे मुंह से जो चाहतीं कह लेतीं, हर्ज न था।"

मगर सावित्री सिंहनी के समान गुर्राकर बोली, "आप जूतों को कहते हैं, मेरा जी चाहता है, इस चाण्डाल का लहू पी जाऊं। किसी युवती का अपमान क्या हंसी-खेल है ?"

बाबू हतबुद्धि-सा खड़ा था जैसे मुंह में ज़बान ही न हो। वह अब भी कांप रहा था, मगर यह वह नहीं कांपता था, उसके अपने पाप कांपते थे। एक बाबू उसे पकड़कर बाहर ले गया। तीसरे बाबू ने कहा, "यह किसीकी सुनता ही न था। आपने आज सबक दे दिया। खूब पिटा।"

सावित्री—अगर आप न आ जाते, तो अभी और भी पिटता, मैं इसे दाल-आटे का भाव बता देती।

चौथा—बहन ! मेरा तो जी खुश हो गया। जो भले घर की स्त्रियों पर कुदृष्टि डाले, वह हमारी सहानुभूति का अधिकारी नहीं। कैसा चुप था ! जानता था, यह सब मेरे दुश्मन खड़े हैं। बात बढ़ी तो सबके सब विरुद्ध हो जाएंगे, मेरे पक्ष में एक भी न होगा।

तीसरा—मगर आपने बड़ी वीरता का कार्य किया। यदि ऐसी दो-

चार घटनाएं हर महीने हो जाएं तो बदमाशों को भी कान हो जाएं। फिर किसीकी तरफ आंख भी न उठाएं।

सावित्री—गरीब लड़की पति से बिछुड़ गई है। उसकी सहायता तो क्या करेगा, उलटा उसको तंग करता है। इनका नाम क्या है, मैं इसकी रिपोर्ट करूंगी।

दूसरा—अब जाने दें। कहीं नौकरी छूट गई तो मारा जाएगा। आपने जो शिक्षा दी है, उसे जल्दी नहीं भूलेगा।

यह कहकर बाबू चले गए। सावित्री और रक्षा एक बैंच पर बैठकर बातें करने लगीं।

रक्षा ने सावित्री की तरफ श्रद्धा-भाव से देखकर कहा, "बहन ! तुमने मुझे बचा लिया, वरना पता नहीं क्या हो जाता। मैं तो कांप रही थी, मगर तुम्हारी आवाज़ सुनते ही मेरी चिन्ता मिट गई। विश्वास हो गया कि अब कोई भय नहीं।"

सावित्री—और जो मैं भी तुम्हारे ही जैसी होती तो ?

रक्षा—जिस समय तुमने जूते लगाने आरम्भ किए उस समय तो मुझे आनन्द आ गया। एक बार मेरे जी में भी आया कि बढ़कर एक लगा दूं।

सावित्री—(आश्चर्य से) अरे तुम्हारे मन में !

रक्षा—परन्तु तुम यहां कैसे आ गईं ; मैं तो समझती थी, तुम लाहौर जा पहुंची होगी।

सावित्री—तुमने मुझको याद किया था या नहीं ?

रक्षा—किया था।

सावित्री—बस, बस, उसी समय उड़कर यहां आ गई। तुमसे आज ही तो प्रतिज्ञा की थी कि श्रद्धा से याद करोगी तो तत्काल पहुंच जाऊंगी।

रक्षा—नहीं, सच बताओ।

सावित्री—(हंसकर) तुम्हारे चले आने के बाद यहां की एक

सखी मिल गई। अपनी भाभी को विदा करने आई थी। मुझे देखकर लिपट गई कि लेकर जाऊंगी। बहुत इन्कार किया, मगर उसने एक न सुनी। कहा, अब न जाने दूंगी ; सायंकाल चले जाना। क्या करती, उतरी और उन्हें तार भिजवा दिया कि रात को आऊंगी, स्टेशन पर चले आना।

रक्षा—अब रात को अकेली जाओगी। बहन, तुम्हें नमस्कार है।

सावित्री—(मुस्कराकर) तुम साथ चली चलो, पहुंचाकर चली आना, क्यों ?

रक्षा—मैं क्या जाऊंगी। (थोड़ी देर के बाद) तुम्हारी सहेली को परमेश्वर ने मेरे लिए ही भेज दिया था। मिल जाए तो पांव चूम लूं।

सावित्री—और मेरे हाथ नहीं चूमती, जिन्होंने उसकी खोपड़ी शुद्ध कर दी है।

रक्षा की आंखों में पानी भर आया, सावित्री का हाथ दबाकर बोली, "मेरे शरीर का एक-एक रोयां तुम्हारा ऋणी है। जब तक जीती हूं, यह उपकार न भूलेगा। तुमने मेरे प्राण बचा लिए हैं। कितनी भयानक घड़ी थी ! अब भी ख्याल आता है तो कलेजा कांप उठता है। उस समय तुम्हारे रूप में स्वयं भगवान आ गए। और क्या ?"

सावित्री—अब किसीसे छेड़छाड़ न करेगा।

रक्षा—तुम्हारा अद्वितीय साहस देखकर मैं चकित रह गई। तुम उसे डांटती थीं, मैं हैरान हो रही थी। सोचती थी, एक मैं हूं जो भीगी बिल्ली बने कांप रही हूं। एक यह है जो सिंहनी-समान गरज रही है।

सावित्री—परन्तु यह हुआ क्या ? बहनोई जी कहां चले गए।

रक्षा—(चिन्ता-भाव से) यह मुझे भी मालूम नहीं। जब गाड़ी आई है, तो मेरे आगे-आगे चल रहे थे। इसके बाद भगवान जाने, कहां गायब हो गए ?

सावित्री ने थोड़ी देर सोचकर कहा, "मेरे विचार में उन्होंने भूल से किसी अन्य युवती को अपनी स्त्री समझ लिया है। उसके कपड़े भी

तुम्हारे ही तरह होंगे। सम्भव है, उसका भी गौना हुआ हो। मेहंदीवाले हाथ और चूड़ेवाली बांह देखकर धोखा खा जाना साधारण बात है। ऐसा प्रायः होता रहता है। स्यालकोट जाकर बात खुलेगी तो भागे-भागे आएंगे। शायद इसी गाड़ी में आ जाएं!"

रक्षा—उनकी भूल हो गई, मेरी मौत में सन्देह न था।

सावित्री—(छेड़कर) ज़रा घूंघट और खींच लो। बोल, अब भी परदे को प्रणाम करोगी या अभी कुछ और देखने की अभिलाषा है?

रक्षा ने मुंह से कुछ उत्तर न दिया, मगर उसके मन में हलचल मची हुई थी। सोचती थी, कहती तो ठीक है। यदि परदा न होता, तो इस संकट की सम्भावना ही न थी, साथ-साथ चली जाती। यदि पीछे रह भी जाती तो भी खोज लेना कठिन न था। मैं समझती थी, परदा न करने से निर्लज्जता आ जाती है, परन्तु मेरा ख्याल गलत निकला। उल्टा यह सिद्ध हो गया कि परदा साहस का गला घोंट देता है। जो परदा करेगी, उसमें वीर-भाव न होंगे। फिर इसमें और सहस्रों अवगुण भरे हैं। दो मील की यात्रा हो, पुरुष साथ चले। एक यह वीर रमणी है कि अकेली सफर करती है। क्या मजाल कि कोई आंख उठाकर देख भी जाए। परन्तु फिर विचार आता, लोग क्या कहते होंगे? यही कि इस स्त्री में लज्जा नाम को नहीं। कैसे मुंह खोलकर चलती है? स्त्रियां अलग ताने मारेंगी। हाय, दुनिया की ज़बान! हाय, दुनिया की झूठी लाज!

आध घण्टे के बाद स्यालकोट से गाड़ी आई, तो उसमें रक्षा का पति रामजीदास भी था। बेचारा घबराया हुआ था, मुंह पर वह कान्ति ही न थी। ऐसा मालूम होता था, जैसे राह में रोता आया है। गाड़ी से उतरकर वह चुप खड़ा हो गया। सावित्री ने उसे देखते ही पहचान लिया और संकेत से अपने पास बुलाकर पूछा, "क्यों, आप किसे देख रहे हैं?"

रामजीदास—क्या कहूं? मैं आज·····। एकाएक उसकी दृष्टि

रक्षा की ओर उठ गई, जो लज्जा से सिमटे-सिमटाए बैंच पर बैठी थी। वह चौंक पड़ा और टिकटिकी लगाकर उसकी ओर देखने लगा। सोचता था, यही तो नहीं है ?

सावित्री ने त्योरी चढ़ाकर कहा, "आप उधर क्या देखते हैं ? शर्म नहीं आती, स्त्री की ओर घूर-घूरकर देख रहे हैं। बुलाऊं किसी पुलिस के आदमी को ?"

रामजीदास का मुंह उतर गया, धीरे से बोला, "मेरी स्त्री खो गई है। उसके भी ऐसे ही वस्त्र थे।" यह कहते-कहते उसकी पलकें भीग गईं।

सावित्री ने मुस्कराकर कहा, "अरे ! स्त्री खो गई। बड़ी अजीब बात है। इधर इस गरीब का पति न मालूम कहां चला गया ? आप स्यालकोट से आ रहे हैं क्या ? हां, वहीं से तो यह गाड़ी आ रही है। उसे देखें तो पहचान लें या नहीं ?"

रामजीदास की आंखें फिर चमकने लगीं। हिचकिचाकर बोला, "उसे तो क्या पहचानूंगा, हां उसके कपड़े पहचान सकता हूं। ठीक ऐसे ही थे। मेरा विचार है, यही है।"

सावित्री—एकदम विचित्र समस्या है। न पति स्त्री को पहचानता है, न स्त्री ने पति को देखा है।

रामजीदास को और भी आशा हो गई। समझा स्त्री मिल गई। शान्ति की सांस लेकर बोला, स्यालकोट से यहां तक जैसे आया हूं, परमेश्वर ही जानता है। अब सन्तोष हुआ।"

सावित्री—परन्तु बाबू साहब ! यह कैसे निश्चय हो कि यह आपकी ही स्त्री है, किसी और की नहीं।

यह कहते-कहते सावित्री को हंसी आ गई। रामजीदास का रहा-सहा सन्देह भी मिट गया। बोला—

"बहनजी ! अब न बनाइए, बहुत बन चुका हूं। दिल अभी तक धड़क रहा है।"

सावित्री—और जिस समय इस निस्सहाय अबला को यहां छोड़कर चले गए थे, उस समय इसका दिल तो नाचने लग गया होगा, क्यों ?

रामजीदास—अब क्या कहूं ? भीड़ में जा रहा था, इतने में क्या देखता हूं कि एक युवती जनाना डिब्बे में सवार हो रही है। इतनी ही आयु थी, ऐसे ही कपड़े थे। मैं समझा, यही है। निश्चिन्त होकर साथ के डिब्बे में जा बैठा। स्यालकोट पहुंचे तो पता लगा कि वह तो कोई और है।

सावित्री—तो जाइए, भागकर मिठाई लाइए। मुंह मीठा किए बिना स्त्री न दूंगी। परन्तु स्यालकोट तक ले जा सकेंगे आप इसे ?

रामजीदास—क्यों ?

सावित्री—कहीं फिर से खो दें, मुझे यही भय है।

रामजीदास—अब और लज्जित न कीजिए। यह शिक्षा सारी उम्र न भूलेगी।

सावित्री ने सारी बात सुनाई। रामजीदास उसके साहस और आत्मिक शक्ति पर चकित हो गया। बोला, "आपके उपकारों से मेरी गर्दन झुकी रहेगी। ऐसा बल और तेज स्त्रियों में आ जाए तो हमें ज़रा कष्ट न हो।"

सावित्री—यह सब आप ही के हाथों में है, चाहें तो आज स्त्रियां शेर हो जाएं। खैर, अब आज्ञा दीजिए, मेरी गाड़ी का समय हो गया है। फिर मिलेंगे तो बातें होंगी।

रामजीदास—(बड़े आग्रह से) बहनजी ! अपना पता तो देते जाइए। भाई साहब को धन्यवाद का पत्र लिख दूं।

सावित्री—पता रक्षा से पूछ लेना। बाकी रहा धन्यवाद का पत्र, सो तुम्हारे भाई साहब इसके भूखे नहीं। स्त्री का बन्धन काटो।

यह कहकर उसने रक्षा को गले लगाया और दूसरे प्लेटफार्म की ओर चली गई।

४

कई महीने बाद दोनों सखियों का गाड़ी ही में फिर मिलाप हुआ। परन्तु अब रक्षा वह रक्षा न थी। मालूम होता था, जैसे किसी स्वतन्त्र देश की स्वतन्त्र रमणी चली आ रही है। घूंघट, वह परदा नाम को भी न था। उसके पीछे-पीछे कुली असबाब लिए आ रहे थे। रक्षा भी उसी कम्पार्टमेण्ट के सामने आकर खड़ी हो गई, जिसमें सावित्री बैठी अपने मायके जा रही थी। रक्षा ने कुलियों से कहा, "असबाब रख दो।" रख चुके, तो उनको मज़दूरी दी और शान्ति से गाड़ी में बैठ गई। सावित्री ने यह सारा दृश्य देखा तो उसका हृदय-कमल खिल गया। बोली, "वाह बहन! अब तो बड़ी बहादुर बन गई।"

रक्षा ने चौंककर सिर उठाया तो सामने सावित्री बैठी थी। रक्षा उछलकर उसके गले से लिपट गई और बोली, "बहनजी! मैं तो निराश हो चुकी थी। मुझे आशा न थी कि अब तुमसे मेल होगा। तुम्हारे मकान पर दो बार गई, दोनों बार जवाब मिला, लाहौर से बाहर हैं। आज जाते-जाते दर्शन हो गए। जी खुश हो गया।"

इतने में रामजीदास खिड़की के पास आकर खड़ा हो गया और रक्षा से बोला, "असबाब रखा गया?"

रक्षा ने मुस्कराकर कहा, "देखिए, बहनजी मिल गईं। नमस्ते कर लीजिए। क्या मालूम, कहां उतर जाएं।"

रामजीदास ने झुककर सावित्री को नमस्ते की और कहा, "दो बार गए, पर आप न मिले। भाईजी कहां हैं? और आप कहां जा रही हैं?"

सावित्री—साथ ही गाड़ी में बैठे हैं, गुजरात उतरेंगे; अच्छा अब जाकर बैठ जाइए, नहीं गाड़ी छूट जाएगी।

रामजीदास चला गया, गाड़ी चलने लगी।

सावित्री ने पूछा, "रक्षा! वह घूंघट कहां है?"

रक्षा ने मुस्कराकर उत्तर दिया, "वज़ीराबाद के स्टेशन पर छोड़ दिया।"

सावित्री—लोग देख-देखकर हंसते होंगे।

रक्षा—शौक से हंसें। यहां अपना बिगड़ता ही क्या है ?

सावित्री—स्त्रियां तो कहती होंगी, बड़ी निर्लज्ज है, खुले मुंह चलती है।

रक्षा—उस मुहताजी से यह निर्लज्जता भली। अब पग-पग पर खीजना तो नहीं पड़ता। अभी चले आ रहे थे, पुल पर उनके एक पुराने मित्र मिल गए। कई वर्ष बाद मिले थे, दो बातें करने खड़े हो गए। परदा होता तो वहीं खड़ी रहती, जैसे कैदी बेड़ियां पहने हो। गाड़ी पर सवार होना मुश्किल हो जाता।

सावित्री—मगर यह काया-पलट कैसे हो गई ? कहां वह पार्सल : कहां यह चहकनेवाली चिड़िया ? आकाश-पाताल का अन्तर पड़ गया।

रक्षा—बड़ी लम्बी कहानी है बहन, (ठण्डी सांस लेकर) यह स्वतन्त्रता की हवा बड़ी महंगी मिली है। ऐसे-ऐसे विरोध हुए कि तुमसे क्या कहूं ? परन्तु शाबास है उनको, जरा नहीं घबराए।

सावित्री—(शौक से) बहन ! सारा हाल सुनाओ। ओस की बूंद से प्यास नहीं बुझती।

रक्षा—बहन ! स्यालकोट जाकर उन्होंने घरवालों से साफ कह दिया कि मैं तो परदा न कराऊंगा। घरवाले सन्नाटे में आ गए। उनको कभी सन्देह न था कि लड़का यों हाथ से निकल जाएगा। कई दिन तक समझाते रहे; परन्तु उनपर जरा भी प्रभाव नहीं हुआ, बोले, "आपकी यह बात तो कभी न मानूंगा।' दो दिन झगड़ा होता रहा, तीसरे दिन प्रातःकाल मुझे घूमने के लिए बाहर ले गए। जब वापस आए तो सभीके मुंह टेढ़े थे, सीधे मुंह से कोई बात न करता था। सास ने मुझे सुनाकर कहा, "चलो ! और नहीं, मेम तो बन गई है। गौन पहन ले तो रही-सही कसर भी निकल जाए। लाहौर जाकर कुछ तो सीखा।"

भाभी ने जवाब दिया, "राम का इसमें जरा भी दोष नहीं। यह सब इसी रानी का काम है। चाहती है अलग हो जाऊं, मगर मुंह से एक शब्द

भी नहीं निकालती। आग लगाती फिरती है।"

सास—नहीं बेटी, राम ही बिगड़ गया है। इसका क्या है? जो कहेगा करेगी।

भाभी—यह चाहे, तो उसकी एक भी पेश न जाए। कहे, भई! मैं तो परदा करूंगी। मगर नहीं, हमारे सामने मिन-मिन करती है, एकान्त में आग पर तेल छिड़कती है।

सास ने कहा, "यह तो ठीक है। स्त्री चाहे तो सब कुछ कर सकती है।"

इसके बाद बहन! मुझपर जो कुछ बीती, वह मैं ही जानती हूं। सारा घर विरुद्ध था, पक्ष में कोई भी न था। कोई इतना भी न पूछता था कि गरीब ने भोजन भी किया है या नहीं। हां, ताने मारने में सभी शेर थे। मैं सारा दिन रोती रहती थी कि कहां आ फंसी! इसी रोने-धोने में पन्द्रह दिन बीत गए।

एक दिन सांझ के समय जबकि आसमान पर बादल छाए हुए थे, ससुरजी बाहर से आते ही बोले, "इस लड़के ने तो जीना हराम कर दिया।"

सासजी ने पूछा, "क्यों, क्या हुआ?"

ससुर—होना क्या है? सारा बाज़ार खिल्ली उड़ाता है। मुझे देखते हैं तो सुना-सुनाकर बातें करते हैं। जी में आता है, ज़हर खा लूं।

सास—ज़हर खाएं तुम्हारे दुश्मन। तुम ज़रा डांट क्यों नहीं देते?

ससुर—अब किस-किसको डांटूं? सारा बाज़ार हंसता है। आज तो मैं इसका फैसला ही कर देना चाहता हूं। राम घर में है या नहीं?

सास—बाहर गया है, अब आता ही होगा। पर ज़रा प्यार से बोलना। आखिर बच्चा है।

इतने में वे भी आ गए। मैं डर गई। ससुरजी ने उन्हें देखते ही कहा, "सुनो भई! मेरे घर में यह बेहयाई न चलेगी। या परदा करो, या घर से निकलो। बोलो, क्या स्वीकार है?"

वे—अब यह परदा इतना प्यारा हो गया ?

ससुर—इससे भी प्यारा !

वे—क्या लड़के से भी ज़्यादा ?

ससुर—लड़के से नहीं, जान से भी ज़्यादा। मैं परदे को अपनी कुल-मर्यादा ख्याल करता हूं।

वे—बहुत अच्छा ! मैं घर छोड़ दूंगा।

सास बोली, "पिता के सामने यों बोलते लाज नहीं आती। कह दे, जो आप चाहें करें, मैं आपसे बाहर नहीं हूं।"

ससुर—तो तुम्हारा यही निश्चय है ? एक बार फिर सोच ला।

वे—जो सोचना था, सोच चुका।

ससुर—तो आप यहां से तशरीफ ले जाएं और अपनी स्त्री को भी ले जाएं। आज से मेरे लिए तुम मर गए, तुम्हारे लिए मैं मर गया।

यह कहते-कहते ससुरजी उठकर अन्दर चले गए, सासजी रोने लगीं। उन्होंने बेटे को बहुत समझाया, परन्तु उन्होंने एक न सुनी। देखते-देखते वे तैयार हो गए। उन्होंने घर की कोई वस्तु भी साथ न ली, यहां तक कि दहेज का सारा सामान भी वहीं छोड़ दिया। मुझसे बोले, "चलो।"

मैं चुपचाप खड़ी हो गई।

उन्होंने मां से कहा, "देख लो, मैं सब कुछ यहीं छोड़े जाता हूं।"

भाभी चमककर बोली, "छोड़े कैसे जाते हो, वह रानो तो ज़ेवरों से लदी हुई है।"

यह बात मुझे ऐसी बुरी मालम हुई, जैसे घाव पर नश्तर लग जाए। मगर मुंह से कुछ न कहा। एक आह भी न निकलने दी।

वे बोले, "ज़ेवर भी उतार दो। किसी प्रकार इस चुड़ैल का कलेजा ठण्डा हो।" मैं आभूषण उतारने लगी। सासजी ने रोकर कहा, "बेटी, रहने दे, अरी क्या करती है ? वह तो पागल हो गया है।"

मगर उन्होंने कहा, "उतार दे ! परमात्मा देगा, पहन लेंगे; न देगा, न पहनेंगे।"

मैंने सारे आभूषण उतार दिए और उनके पीछे-पीछे बाहर निकल आई। सासजी रोकती ही रह गईं, मगर हम चले आए। गली के मोड़ पर पहुंचे तो आसमान भी रोने लगा। मैंने ठिठककर कहा, "पानी बरस रहा है।"

वे––तुम कागज़ की गुड़िया नहीं हो कि गल जाओगी, चुपचाप चली आओ।

रात का समय था, बादल बरस रहा था, ठण्डी हवा चल रही थी, बिजली चमक रही थी और हम दोनों स्त्री-पुरुष घर से निकलकर वर्षा में भीगते, सरदी में कांपते, भूखे-प्यासे स्टेशन की तरफ जा रहे थे।

५

इतना कहकर रक्षा चुप हो गई। सावित्री ने उसको स्नेहपूर्ण नेत्रों से देखा और कहा, "तुम दोनों ने बड़ी वीरता का काम किया, तुम वीरात्मा हो। परमात्मा तुम्हें इतना दें कि तुम संभाल न सको।"

इसके बाद बहुत देर तक दोनों चुप रहीं। आखिर सावित्री ने पूछा, "अब कहां जा रहे हो?"

रक्षा––हमारी बदली हो गई। रावलपिंडी जा रहे हैं।

इतने में वज़ीराबाद का स्टेशन आ गया। रक्षा सावित्री को लेकर नीचे उतरी और बोली, "ज़रा मुझे स्यालकोट के प्लेटफार्म पर ले चलो।"

सावित्री उसे वहीं ले गई। रक्षा ने चारों तरफ देखा, और तब उस दीवार के सामने जा पहुंची, जहां दो मास पूर्व सहमी हुई खड़ी थी। उस समय वह स्थान कितना भयानक था, मगर आज उसके लिए यह दीवार मन्दिर से कम न थी। रक्षा को ऐसा मालूम हुआ, जैसे दीवार मुस्करा रही है, जैसे उससे बातें कर रही है। यहां आकर उसको स्वर्ग का राज्य मिल गया। उसने सावित्री से कहा, "बहन! यही वह स्थान है, जहां मेरी काया-पलट हुई। यहीं मेरे बंधन खुले, यहीं पर मुझे स्वतन्त्रता का वरदान मिला। यह स्थान मेरे लिए तीर्थ से भी बढ़कर है।"

यह कहते-कहते उसका गला भर आया। इतने में सावित्री ने चौंककर एक बाबू की तरफ इशारा किया और कहा, "वह देखो कौन है, कुछ जानती हो ?"

रक्षा—नहीं।

सावित्री—(मुस्कराकर) तुम्हारे तीर्थ का देवता है। वही बाबू, जिसकी उस दिन मैंने जूतों से पूजा की थी। इसे भी प्रणाम कर लो।

बाबू ने सावित्री को देखा तो उसके चेहरे का रंग फक हो गया। वह जिधर से आ रहा था, उधर ही वापस चला गया।

रक्षा ने हंसकर सावित्री की तरफ देखा और कहा, "बहन ! इस तीर्थ का देवता वह तो क्या होगा, हां तुम इसकी देवी अवश्य हो, मैं तुम्हें प्रणाम करती हूं।"

थोड़ी देर बाद दोनों गाड़ी में जा बैठीं।

अपनी कमाई

प्रातःकाल अमीर बाप ने आलसी और आरामतलब बेटे को अपने पास बुलाया और कहा, "जाकर कुछ कमा ला, नहीं रात को भोजन न मिलेगा।"

लड़का बेपरवाह, दुर्बल और निर्लज्ज था। परिश्रम करने का उसे अभ्यास न था। सीधा अपनी मां के पास गया और रोने लगा। माता ने बेटे की आंखों में आंसू और उसके मुख पर चिन्ता और शोक की मलीनता देखी, तो उसकी ममता बेचैन हो गई। उसने अपना सन्दूक खोला और एक पौंड निकालकर बेटे को दे दिया।

रात को बाप ने बेटे से पूछा, "आज तुमने क्या कमाया ?" लड़के ने जेब से पौंड निकालकर बाप के सामने रख दिया।

बाप ने कहा, "इसे कुएं में फेंक आ।"

लड़के ने तत्परता के साथ पिता की आज्ञा का पालन किया।

अनुभवी पिता सब कुछ समझ गया। दूसरे दिन उसने स्त्री को मैके भेज दिया।

तीसरे दिन फिर उसने लड़के को बुलाया और कहा, "जा कुछ कमा ला, नहीं रात को भोजन नहीं मिलेगा।"

लड़का अपनी बहन के पास जाकर रोने लगा। बहन ने अपना सिंगार-दान खोला, उसमें से एक रुपया निकाला और भाई को दे दिया।

रात को बाप ने बेटे से पूछा, "आज तुमने क्या कमाया ?"

लड़के ने जेब से रुपया निकालकर बाप के सामने रख दिया।

बाप ने कहा, "इसे कुएं में फेंक आ।"

लड़के ने तत्परता के साथ आज्ञा का पालन किया।

अनुभवी पिता सब कुछ समझ गया। दूसरे दिन उसने बेटी को ससुराल भेज दिया।

इसके बाद उसने एक दिन फिर बेटे को बुलाकर कहा, "जाकर कुछ कमा ला, नहीं रात को भोजन न मिलेगा।"

लड़का सारा दिन उदास रहा और उसकी आंखों से आंसू बहते रहे, परन्तु आंसुओं को देखनेवाली प्यार की आंखें घर में न थीं। विवश होकर संध्या समय वह उठा और बाज़ार में जाकर मज़दूरी खोजने लगा।

एक सेठ ने कहा—"मेरा सन्दूक उठाकर घर ले चल। मैं तुझे दो आने दूंगा।"

अमीर बाप के अमीर बेटे ने सन्दूक उठाया और उसे सेठ के घर पर पहुंचाया, लेकिन उसकी सारी देह पसीने में तर थी। पांव कांपते थे और गर्दन और पीठ में दर्द होता था।

रात को बाप ने बेटे से पूछा, "आज तुमने क्या कमाया?"

लड़के ने जेब से दुअन्नी निकालकर बाप के सामने रख दी।

बाप ने कहा, "इसे कुएं में फेंक आ।"

लड़के की आंखों से क्रोध की ज्वाला निकलने लगी। बोला, "मेरी गरदन टूट गई है और आप कहते हैं कुएं में फेंक आ।"

अनुभवी बाप सब कुछ समझ गया।

दूसरे दिन उसने अपना कार-बार बेटे के सुपुर्द कर दिया।

एक स्त्री की डायरी

[३ सितम्बर, १६२१]

परमात्मा का लाख-लाख शुक्र है, जो ऐसा अच्छा घर मिला। घर क्या है, एक महल है। किसी वस्तु का अभाव नहीं, सब कुछ है। सच तो यह है, मेरे भाग खुल गए। मुझे स्वर्ग मिल गया। मैं जो कुछ चाहती थी, ब्याह से पहले मैंने परमात्मा से हाथ बांधकर जिस-जिस चीज़ के लिए प्रार्थना की थी, मुझे उससे भी अधिक मिल गया। घर से विदा होते समय जो चिन्ता, जो क्षोभ, जो धड़कन थी वह अब नाम को भी नहीं। मेरी सास बहुत हंसमुख हैं। मुख-कमल सदा खिला रहता है। मुझे देखकर बहुत खुश हुईं और बोलीं--कैसी सुन्दर है, देखकर भूख मिट जाती है।—दिन में कई बार आकर पूछती हैं--कोई तकलीफ तो नहीं? जिस चीज़ की ज़रूरत हो, मांग लेना, संकोच न करना, अब यह तेरा अपना घर है।—भोजन के समय सामने आ बैठती हैं और बड़ी साध से खिलाती हैं। दुपहर को बाजा लाकर सामने रख देती हैं, और कहती है, बजा। लाख 'नहीं' करती हूं; मगर कौन सुनता है? हारकर बजाना ही पड़ता है। उस समय उनका मुंह प्रसन्नता से चमकने लगता है। इतना आदर, इतना प्रेम मैके में भी न था। ससुरजी भोलेनाथ हैं। सासजी जो चाहें करें, क्या मजाल जो किसी बात में बोल जाएं। दोनों समय भोजन पाने आते हैं और फिर मदानें में चले जाते हैं। हां, इतना पूछ लेते हैं--छोटी बहू उदास तो नहीं हो गई। सासजी मुस्कराकर

उत्तर देती हैं--तुम अपना हुक्का पियो ; तुम्हारी छोटी बहू के लिए मैं काफी हूं। जेठानीजी भी बहुत अच्छे स्वभाव की हैं, मुझसे बहुत जल्द घुल-मिल गई हैं। सारा दिन पास बैठी रहती हैं, रात को भी दस बजे से पहले पीछा नहीं छोड़ती। जेठजी कहीं बम्बई में नौकर हैं, पांच सौ के लगभग वेतन पाते हैं।

बाकी रह गए वे। उनके विषय में क्या लिखूं। अत्यन्त हंसमुख आदमी हैं। बात-बात में हंसते हैं और हंसाते हैं। ऐसा मधुरभाषी, ऐसा सरल-हृदय, ऐसा रौनकी जीव मैंने कभी नहीं देखा। उनके चेहरे पर मुसकान सदा खेलती रहती है। मानो मुस्कराता हुआ चित्र हो, जो कभी उदास नहीं होता। चित्रकार ने एक बार मुस्कराते हुए बना दिया, अब सदा मुस्करा रहा है। यही अवस्था उनकी है। अपनी भाभी से बहुत प्यार है। आते हैं तो द्वार ही से भाभी-भाभी चिल्लाने लगते हैं। उनकी एक-एक बात की प्रशंसा करते हैं। कहते हैं, ऐसी भाभी शहर-भर में किसीकी न होगी। भाभी भी उनको बहुत चाहती हैं। उनकी ज़रा-ज़रा-सी बात का ख्याल रखती हैं। उनके इस प्यार को देख मैं किसी दिव्य लोक में पहुंच जाती हूं। यह भाभी-देवर की मुहब्बत नहीं, मां-पुत्र का प्यार है। यह सांसारिकता का नाता नहीं, बहन-भाई का सम्बन्ध है, कैसा पवित्र ! कैसा उज्ज्वल ! ! कैसा उच्चकोटि का ! ! !

[२७ सितम्बर, १६२१]

आज मुझे ससुराल आए हुए पूरा एक महीना हो गया। इस बीच में एक बार भी ख्याल नहीं आया कि किसी दूसरी जगह आ गई हूं। ऐसा मालूम होता है, जैसे अपने घर बैठी हूं। हां, इतना भेद है कि अब मेरा अपना अस्तित्व बन गया है। इसके अतिरिक्त मेरी दुनिया में एक नवीन व्यक्ति का प्रवेश हुआ है और यह व्यक्ति कुछ ही दिनों में मेरा आवश्यक अंग-सा बन गया है। वे मुझे कितना चाहते हैं, मुझे देखकर उनकी कैसी हालत हो जाती है, शरारती आंखों से किस तरह मुस्कराते हैं, घर का कोई आदमी आ निकले, तो कैसे भोले-भाले बनकर

दूसरी तरफ देखने लगते हैं, ये बातें ऐसी नहीं कि इनपर विचार करूं और हृदय में ब्रह्मानन्द की गुदगुदी न होने लगे। अलग जा बैठूं, तब भी उधर से निकलने का कोई बहाना बना लेते हैं और प्रकट यह करते हैं कि जैसे मेरा ध्यान ही नहीं है, यद्यपि उनकी एकमात्र अभिलाषा यही होती है कि किसी प्रकार आंखें मिल जाएं। स्वयं मेरी यह अवस्था है, चाहती हूं पास ही बैठी रहूं, और बातें करूं। मुझे तो उनका दफ्तर जाना भी अखरता है। चले जाते हैं तो दिल उदास हो जाता है। जब उनके लौटने की बेला होती है, तो आंखें द्वार की ओर दौड़ती हैं। जानती हूं कि घर के लोग कनखियों से देख रहे हैं। ज़रूर मन में हंसते होंगे। शायद दिल में सोचते हों, कैसी निर्लज्ज है, ज़रा ख्याल नहीं करती; मगर क्या करूं, दिल नहीं मानता। कभी-कभी ऐसा मालूम होता है, जैसे उनको कई सालों से जानती हूं, जैसे हम सदा से एकसाथ रहे हैं, कभी एक दिन के लिए भी जुदा नहीं हुए। एक दिन मुझसे कहने लगे, "प्रकाश ! तूने मुझपर जादू तो नहीं कर दिया ! जी चाहता है, दिन-रात तेरे ही पास बैठा रहूं, तेरा मुंह देखता ही रहूं।" मेरा मुंह लज्जा से लाल हो गया। क्या उत्तर देती, सिर झुकाकर चुप हो रही। फिर धीरे से मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर बोले, "तुझे यहां कोई कष्ट तो नहीं है, साफ-साफ कह दे।" मैंने सिर उठाकर कहा, "मुझे यहां ज़रा भी तकलीफ नहीं।" इस समय मेरी आंखें उनकी आंखों से मिल गईं। कैसे शरारती हैं, इतनी-सी बात पर मुस्कराने लगे। मैं शरमा गई, और हाथ छुड़ाकर हट गई, मगर उन्होंने फिर अपना हाथ आगे बढ़ा दिया, और बोले, "मेम साहब ! शेक हैंड (Shake hand) करो।"

मैंने उनका हाथ झटक दिया और मुंह फेर लिया।

इसपर ऐसी गंभीरता से, जैसे व्याख्यान दे रहे हों, उच्च स्वर में बोले, "सज्जनो ! आप इस बात के साक्षी हैं कि हमारी श्रीमती ने इस स्थान पर दिन के प्रकाश में हमारा अपमान किया है और हमारा अत्यन्त सुकोमल और सुकुमार हाथ दुखा दिया है। इससे साफ सिद्ध

होता है कि यदि स्त्रियों को स्वाधीनता से इसी प्रकार विकास करने दिया गया तो भारतवर्ष के पति-परमेश्वरों को घोर विपत्तियों का सामना करना पड़ेगा।"

मैंने हंसते-हंसते उनके मुंह पर अपना हाथ रख दिया और कहा, "आप यह क्या कह रहे हैं, कोई सुन ले तो क्या कहे ?"

इतने में बाहर किसीके पांव की चाप सुनाई दी। मैंने घूंघट मुंह पर खींच लिया। दरवाजे की तरफ पीठ करके खड़ी हो गई। यह इनकी भाभी थीं। खांसकर कमरे में आ गईं और बोलीं, "क्यों कन्हैया ! क्या हो रहा था, और यह तेरा चेहरा क्यों लाल हो रहा है ?"

मुझे आशा थी, वे संकोच से सिर न उठा सकेंगे। उनसे कोई जवाब न बन पड़ेगा। मगर मेरा ख्याल गलत निकला। उन्होंने तड़ से कहा, "इस स्त्री ने थप्पड़ मारा, भाभी !"

भाभीजी हंस पड़ीं ; मगर मेरा तो हंसी के मारे बुरा हाल था, लोटी जाती थी। मैंने दुपट्टे का आंचल मुंह में ठूंस लिया, परन्तु हंसी फिर भी न रुकती थी। उन्होंने मेरी तरफ संकेत करके भाभी से पूछा, "क्यों भाभी ! इस गरीब को कुछ खाने को मिलता है या नहीं ! मेरा ख्याल है, नहीं मिलता, तभी तो कपड़े खाती रहती है। देख लो, आधा दुपट्टा खा चुकी है !"

भाभी—अब तू सामने बैठकर खिलाया कर।

वे—ओफ ! हमारी श्रीमती की कोई परवाह नहीं करता !

भाभी—इस काम के लिए तू ठीक है।

वे—न भाभी ! मुझसे यह काम न हो सकेगा। कौन काम भी करे, थप्पड़ भी खाए।

भाभी—तू इस काम के सिवा और किसी योग्य ही नहीं। यह भी न करेगा तो और क्या करेगा ?

वे—इस श्रीमती से बाजा बजाना सीखूंगा। क्यों प्रोफेसर साहब ! आपको शागिर्द बनाने में कोई आपत्ति तो नहीं ?

मैं हंसती भी थी, और हैरान भी थी कि कैसे आदमी हैं, ज़रा नहीं घबराते। भाभी ने कहा, "तू खाक सीखेगा, तेरे भाग्य में यह चीज़ नहीं।"

वे—वाह भाभी ! भाग्य में क्यों नहीं ? क्या वह हमारी श्रीमती नहीं है ? जब चाहें बाजा बजाने लगें, जब चाहें इनकी दम-भरी तानों से हमारा कमरा गूंजने लगे। अब तुम जानो ! हम ठहरे बड़े आदमी। हमें इस सिर-दर्द की क्या आवश्यकता है। यह बैठकर गाएगी। हम बैठकर सुनेंगे। क्यों भाभी ?

इन शब्दों में कितना प्यार भरा था, कैसा अपनत्व ! मेरे शरीर में आनन्द की बिजली दौड़ गई। ऐसा मालूम हुआ, जैसे संसार के सकल सुख मेरे ही लिए हैं।

[१३ नवम्बर, १६२१]

हाय शोक ! क्या समझा था, क्या हो गया। इससे तो मर जाना ही अच्छा ! परन्तु मुझे मौत भी नहीं आती, जो इस संकट से छुटकारा हो। जब देखो, भाभी ! जहां देखो, भाभी। आखिर सहन-शक्ति की भी तो कोई सीमा है। जी चाहता है, घर को आग लगाऊं, और कहीं निकल जाऊं। सुख न होगा, मगर छाती पर कोई मूंग भी तो नहीं दलेगा। किसी पाठशाला में लड़कियां पढ़ा लूंगी, मांगकर खा लूंगी ; पर यहां न रहूंगी। मैं भी कैसी मूर्खा हूं ! भाभी-भाभी कहते जीभ थकती थी, यह ख्याल भी न था कि अन्दर से मेरी सौत बनी बैठी है। उस दिन कैसे चाव और प्रेम और परिश्रम से भोजन बनाया। दो घंटे बाट जोहती रही। खाने बैठे तो पूछा, कैसा पका है। मेरी प्रशंसा तो क्या करनी थी, भाभी की महिमा गाने लगे। बोले, "खाना तो भाभी बनाती है। उसके हाथ का भोजन ऐसा स्वादिष्ट और मीठा होता है कि बस !" मुझे ज़हर चढ़ गया ! जी चाहता था, सिर दीवार के साथ दे मारूं। प्रशंसा के दो शब्द कह देते, तो उनका क्या बिगड़ जाता ! मेरा साहस बढ़ जाता। मैं भी समझती, मुझे कोई प्यार करनेवाला है। मगर नहीं, मुझे जलाते हैं। मुझे जलाने में उन्हें मज़ा मिलता है। कभी भाभा की किसी चीज़

में भी ऐब निकाल दें, फिर देखें कैसा आड़े हाथों लेती है ; बोलने न दे, मुंह बंद कर दे। एक मैं हूं कि जो कुछ कहते हैं, सिर झुकाकर सुन लेती हूं। तभी तो शेर हो जाते हैं।

परसों भाभी ने कहा, "प्रकाश ! प्रेम के लिए फ्राक सी दे।" पहले तो दिल में ख्याल आया, कह दूं, 'मुझे फुरसत नहीं, आप सी लो।' फिर सोचा, चलो सी दो, बेकार बैठे रहने से मेरे हाथ बढ़ तो न जाएंगे। दो-तीन घण्टे मशीन चलाती रही। जब तैयार हुआ, तो हुज्जतें करने लगीं—यह काट गलत है, यह सिलाई मोटी है, लेस ठीक नहीं लगीं। और यह फल था मेरे तीन घंटे के परिश्रम का ! कोई पूछे, क्या सिलाई देकर सिलाया था जो ऐसी बारीकियां देखने चली हैं ! उनसे कहा तो उन्होंने भी भाभी का पक्ष लिया, बोले, "ठीक कहती है। आप बहुत अच्छी सिलाई करती है। उसके हाथ का काम देखो तो दंग रह जाओ। कोई कारीगर दरज़ी भी ऐसा काम कर सकता है, मुझे इसमें संदेह है ; इसीलिए उसे तुम्हारा फ्राक पसन्द नहीं आया।" अब कोई काम बताए, साफ कह दूंगी—'रानी ! तुम्हारे हाथों में मेंहदी नहीं लगी है, आप कर लो। काम भी करूं, जली-कटी भी सुनूं ; ऐसी सहनशीलता मुझमें नहीं।

कल रात सिनेमा देखने गए। दो-तीन स्थान आए, जहां विषय साफ न था। मेरा दुर्भाग्य ! उनसे पूछ बैठी। बस, उनको अवसर मिल गया। लगे भाभी की तारीफें करने, "भाभी कभी नहीं पूछती, सारी कहानी आपसे आप समझ लेती है। कमाल की समझदार है। सिनेमा की बारीकियों को ऐसा समझती है कि तुमसे क्या कहूं ! वह तो किसी सिनेमा कम्पनी की डाइरेक्टर बन सकती है। प्रकाश, शायद तुम इसे अत्युक्ति समझो, मगर यह अत्युक्ति नहीं है। भाभी बड़ी समझदार है।" यह सुनना था कि मेरी देह में आग लग गई ; मगर क्या कर सकती थी ! जब तक बैठी रही रोती रही, परन्तु वे मजे में बैठे तमाशा देखते रहे। भाभी की आंख से एक आंसू गिर जाए तो सारी रात नींद न आए। दस बार उठकर देखें कि सो गई है या नहीं। एक मैं हूं कि रो-रोकर मर

जाऊं तब भी आशा नहीं कि उठकर दो मीठे शब्द ही कह दें। इन्हीं बातों ने तो मेरे जीवन की प्रसन्नता निगल ली है। शायद वे समझते हों कि मैं अंधेरे में हूं, मगर यह उनका भ्रम है। मेरी आंखों ने सब कुछ भांप लिया है। मुंह से न बोलूं, यह और बात है; पर जानती सब कुछ हूं।

हाय शोक! मेरा घर मेरी आंखों के सामने जल रहा है और मैं कुछ कर नहीं सकती। मनुष्य-जीवन की विवशता का ऐसा दृष्टान्त किसीने कम देखा होगा।

[२४ नवम्बर, १६२१]

मेरा सन्देह ठीक निकला।

अब मेरे लिए संसार में बाकी कुछ नहीं रह गया है; मैं पूर्ण रूप से तबाह हो गई। मैंने गरीब से गरीब और कंगाल से कंगाल स्त्रियां देखी हैं, मगर मुझसे वे भी अच्छी हैं। उनके पास आभूषण नहीं हैं, बहुमूल्य वस्त्र नहीं हैं, परन्तु उनके पास मन का सन्तोष और रात की नींद तो है। मेरे पास वह भी नहीं। वे पेट भरने के लिए दिन-रात परिश्रम करती हैं, इसपर भी उन्हें भूखों रहना पड़ता है। कई ऐसी भी हैं, जिनके पति शराब पीते हैं, कई जूआ खेलते हैं। परन्तु उनको इतना संतोष है कि पति उनका है, इसपर किसी दूसरी स्त्री का अधिकार नहीं। यह किसी स्त्री की खातिर उनसे लड़ने को तैयार न होगा। मेरा जीवन इस आनन्द से भी शून्य है। मेरा दिल इस धन से भी वंचित है। मेरे पास सब कुछ है, मगर मेरे पास कुछ भी नहीं है।

वे अब भी बात-बात में भाभी का बखान करते हैं। साफ मालूम होता है कि भाभी उनके मन में बस गई है। उसके सिवा वहां किसी अन्य के लिए स्थान नहीं है। मैं उनके मन में इस प्रकार रहती हूं जैसे किसीके यहां चार दिन के लिए कोई मेहमान आ जाए। मकान-मालिक उसे अपने यहां ठहरा लेता है। वह उसका आदर-सत्कार भी करता है। उससे हंसता-बोलता भी है। मगर दिल में सदा कुढ़ता रहता है कि अब यह चला क्यों

नहीं जाता ? कब तक पड़ा रहेगा ? मुंह से कहे या न कहे, आंखें साफ कह देती हैं कि खुश नहीं है। मैं इसी तरह की मेहमान हूं। खाना-कपड़ा सभी देते हैं, सम्मान से कोई भी नहीं देखता। सोचा था, मायके चली जाऊं। न आंखों से देखूंगी, न दिल में जलन होगी। घरवाले पहले ही बुला रहे हैं। लेकिन एक सहेली ने राय दी—यह मूर्खता न कर बैठना, नहीं बाद में रोएगी। बात ठीक है, मैंने जाने का विचार छोड़ दिया।

अब भाभी भी समझ गई कि मुझे सब कुछ मालूम है। वह पहले का सा मेल-मिलाप अब नहीं रहा। मुझसे खिंची-खिंची रहती है, जैसे मैंने उसे कोई हानि पहुंचाई हो। मेरी तरफ जब देखती है, अग्निपूर्ण आंखों से देखती है। मां जी भी अप्रसन्न रहती हैं। मालूम होता है, भाभी ने उनके भी कान भर दिए हैं। शायद अगर मैं एक बार भी जाकर अपनी दशा का बयान करूं, तो उनका व्यवहार बदल जाए। पर क्यों ? वे मुझसे क्यों न पूछें कि तुझे क्या कष्ट है ? मैं दिखा दूंगी कि मुझे भी तुम लोगों की परवाह नहीं। तुम मुझसे एक गज़ दूर भागो, मैं तुमसे चार गज़ दूर भागूंगी।

वे चार-पांच दिन से बीमार पड़े हैं। डाक्टर रोज़ आता है मगर आराम नहीं हुआ। परमात्मा उन्हें जल्द स्वस्थ करे, मेरा संसार उन्हींसे है। चारपाई पर पड़े देखती हूं तो कलेजा कांप जाता है। ऐसा मालूम होता है जैसे बरसों से बीमार हैं। मां जी और ससुर जी दोनों दिन में एक-दो बार आकर देख जाते हैं, मगर भाभी नहीं आती। कैसी पाषाण-हृदया है ! एक ही मकान में रहते हैं, फिर भी बेपरवाही !

मगर कोई परवाह नहीं।

[२७ नवम्बर, १६२१]

कल बुखार और भी तेज़ हो गया। सारा दिन बेसुध पड़े रहे। एक बार भी आंख न खोली। मैं पास बैठी रोती रही। मां जी सारे दिन उसी कमरे में बैठी रहीं और मुझे तसल्ली देती रहीं, परन्तु मेरे दिल में न जाने क्या हो रहा था, जैसे कोई जानवर मेरे कलेजे को पंजों से खुरच

रहा था। मेरा दिल जैसे अथाह अंधकार में डूबा जा रहा था। जैसे दुनिया में मेरे लिए सिवा निराशा के और कुछ बाकी न रह गया था। उनके चेहरे की ओर ताकते हुए मुझे डर लगता था। बार-बार सोचती थी, क्या होनेवाला है ! कभी-कभी ऐसी भयानक, ऐसी काली कल्पना आकर सामने खड़ी हो जाती थी कि आंखों तले अंधेरा छा जाता था और दरो-दीवार घूमते नज़र आते थे। मां जी ने मुझे चिन्ता में देखा तो उनका क्रोध उतर गया। देर तक मुझे गोद में लिए बैठी रहीं और प्यार करती रहीं, मानो मैं छोटी-सी लड़की थी, जो मां की गोद में बैठी उसकी मुहब्बत से खेल रही हो। यह मुहब्बत कितनी पवित्र थी ! दिल की कितनी गहराइयों से निकलती थी, यह लिखना आसान नहीं। इसे कोई चित्रकार भी बयान नहीं कर सकता। इसे केवल अनुभव किया जा सकता है। ऐसी सास को नाराज़ किए रहना मूर्खता नहीं तो और क्या था ! कदाचित् पहले होश आ जाता तो इतने दिन न जलती, न जलाती ; मगर भाभी ने कमरे में पांव भी न रखा, हां, लड़के को एक-दो बार भेजा कि देख आ क्या हाल है। ऐसी निर्दयता भी किस काम की ! वे उसे कितना चाहते हैं ! इन बीबी जी को परवाह ही नहीं; शायद डरती हो कि कमरे में चली गई तो कहीं मैं भी बीमार न हो जाऊं ! जैसे आप कभी बीमार न होगी।

जब संध्या समय हुआ तो उसे बीमार देवर का ध्यान आया। लड़के को गोद में लिए हुए आकर उनके पलंग के पास खड़ी हो गई और बोली, "क्यों प्रकाश ! मां जी कहती हैं, आज सारा दिन होश नहीं आया। अब क्या हाल है ? बुखार हलका हुआ है या नहीं ?"

मुझे ऐसा मालूम हुआ जैसे आग का शोला पेट से उठकर मुंह की ओर आ रहा है। मगर उसे दबाकर उत्तर दिया, "अभी तो नहीं हुआ, हो जाएगा।"

भाभी ने उनके मुंह की तरफ देखा और घबरा गई। बोली, "इतना कमज़ोर हो गया है, मुझे यह ख्याल न था।"

मैं—(रुखाई से) बीमार होकर कमज़ोर न होंगे तो क्या मोटे हो जाएंगे ! बुखार उतर जाए, यही बड़ी बात है। बैठ जाओ, खड़ी कब तक रहोगी !

भाभी की आंखों में आंसू आ गए। उसने लड़के को कुरसी पर बैठा दिया और आप पलंग पर झुककर उनके चेहरे की तरफ देखने लगी। एका-एक उन्होंने करवट बदली और बेहोशी में कहा, 'भाभी !"

भाभी ने उनके सिर पर हाथ फेरकर कहा, "क्यों कन्हैया ! मैं तेरे पास खड़ी हूं। अब जी कैसा है ?"

उन्होंने आंखें खोल दीं, भाभी की तरफ देखा और कराहकर बोले, "सिर फटा जाता है ! बड़ी तकलीफ है।"

यह कहकर उन्होंने आंखें बन्द कर लीं।

भाभी—प्रकाश से कहूं तेरा सिर दबा दे ?

वे—तेरे हाथ नहीं हैं क्या, जो तू प्रकाश से कहेगी ! वह गरीब तो रात-दिन मेरे पास बैठी रहती है। तुझसे इतना भी नहीं हो सकता तो जा, अपने कमरे में बैठ। मां जी कहां हैं ?

भाभी उनके पलंग पर बैठ गई और उनका सिर दबाने लगी। शायद कोई अत्युक्ति समझे; मगर यह अत्युक्ति नहीं है। भाभी जितने ज़ोर से सिर दबाती थी, उससे दुगुने ज़ोर से मेरा दिल दबा जाता था। सीने में आग-सी लगी हुई थी। जी चाहता था, आत्महत्या कर लूं। हाय शोक ! जिसके लिए हम दिन का आराम और रात की नींद निछावर कर दें, वह दूसरों के सामने हमारा इस तरह अपमान करे !

इतने में उन्होंने भाभी का हाथ अपने हाथ में ले लिया और बोले, "अब मेरा बुखार बहुत जल्दी उतर जाएगा भाभी ! अगर तूने मेरा बायकाट न किया होता तो अब तक कभी का बुखार उतर गया होता। चली थी हेकड़ी जताने। आखिर झक मारकर हार माननी पड़ी या नहीं ?"

मेरी देह में और भी आग लग गई।

भाभी ने एक बार मेरी तरफ देखा और फिर उनके सिर पर हाथ फेरकर कहा, "हां बाबा ! सौ दफा हारी। अब तुम यह बुखार छोड़ो।"

अब मुझसे सहन न हो सका। उठकर छत पर चली गई और रोने लगी। मगर मेरे आंसू देखनेवाला कौन था !

[५ दिसम्बर, १६२१]

मेरे आंसू देखनेवाला मेरा परमात्मा था। उसने मेरी विवशता और एकान्त को देखा, मेरे चहुं ओर छाए हुए अन्धकार को देखा और मेरे जीवन की काली रात में आशा, प्रेम और उल्लास का प्रभात भेजकर मुझे बचा लिया।

२८ नवम्बर की रात थी, मैं मरने की तैयारियां कर रही थी। मरने के लिए या विष की आवश्यकता है, या रेलगाड़ी की पटरी पर सिर रखने की, या पिस्तौल की, या फांसी की रस्सी की। मेरे पास कुछ भी न था। मेरे सामने केवल एक ही मार्ग था, छत पर से कूद पड़ूं और रोज़ की मुसीबतों को सदा के लिए खत्म कर दूं। मैं छत के किनारे खड़ी थी। ज़रा आगे बढ़ती तो मौत की गोद में पहुंच जाती, पीछे हट आती तो जिन्दा बच रहती। जीवन और मृत्यु को इतना पास-पास मैंने कभी नहीं देखा था। केवल एक पग का अन्तर था। आगे मृत्यु थी, पीछे जीवन। मगर मेरे लिए मृत्यु में जीवन की आशा और माधुरी थी, जीवन में मृत्यु की निशा और निराशा। मैंने दिल कड़ा करके नीचे की तरफ देखा, वहां मृत्यु का सन्नाटा और अंधेरा था। मेरा दिल कांप गया। मृत्यु की जो प्रकाशपूर्ण मूर्ति मैंने दिल में अंकित की थी, वह इस अथाह अन्धकार में न जाने कहां छिप गई। मेरे पांव रुक गए। कभी-कभी मृत्यु भी दुनिया की प्रायः दूसरी चीज़ों के समान दूर से सुन्दर दिखाई देती है, मगर जब हम निकट पहुंचते हैं तो उसका सौन्दर्य गायब हो जाता है।

मैं उसी स्थान पर जीवन और मृत्यु के बीच बैठ गई और अपनी स्थिति पर विचार करने लगी—अब क्या करूं, किधर जाऊं ? आशा के जीवन और जीवन की आशा को कहां ढूंढूं ? मेरे लिए इस विशाल संसार

में कहीं भी स्थान न था। सहसा मृत्यु ने फिर अपनी भुजाएं फैलाई और मुस्कराई। मैं फिर मरने को तैयार हो गई। जो हताश हो, उसके लिए और उपाय ही क्या है !

एकाएक ख्याल आया, पहले चलकर भाभी से दो-दो बातें तो कर लूं। ऐसी खरी-खरी सुनाऊं कि तिलमिला उठे। क्या याद करेगी कि किसीने सुनाई थीं। सारी प्रेम-लीला भूल जाएगी। इतना-सा मुंह निकल आएगा।

मैं नीचे उतर आई और भाभी के कमरे की तरफ चली। इस समय अगर वह सामने आती तो मेरी अग्निपूर्ण दृष्टि उसे जलाकर भस्म कर देती। मगर···

मैंने देखा, वह धीरे-धीरे दरवाज़े की तरफ बढ़ी और बाहर चली गई। मेरा कलेजा सन-से हो गया। मालूम हुआ, कोई भयानक रहस्य खुलनेवाला है। मैं भी उसके पीछे-पीछे चली—देखूं, कहां जाती है, किसके पास, किस उद्देश्य से। ज़रूर कोई विशेष बात है, कोई गुप्त उद्देश्य, कोई पापमय विचार, जिसके लिए यह समय उचित समझा गया है। मैं इन्हीं विचारों में लीन चली जाती थी कि वह हमारे मकान के पास ही जो मन्दिर है, उसके अन्दर चली गई और देवी की मूर्ति के सम्मुख हाथ बांधकर खड़ी हो गई। मैं बाहर छिपी हुई उसकी प्रार्थना का एक-एक शब्द सुन रही थी। उसने रोती हुई आंखों और कांपती हुई ज़बान से कहा, "देवीमाता, मेरे पुत्र को स्वस्थ कर। वह मेरा देवर है, मगर मैंने उसे सदा पुत्र-तुल्य ही समझा है। उसकी अज्ञान स्त्री का ख्याल कर। उसकी बाली उमर है, उसकी आंखों की उदासी और हृदय की अशान्ति देख और उसका सुहाग बनाए रख। मैंने उसे बचपन से खिलाया है, मेरे हाल पर दया कर। मैं मर जाऊं, मगर वह बच जाए—यही मेरी प्रार्थना है।"

मेरी आंखें खुल गईं। अब सत्य मेरे सामने खड़ा था, कैसा आनन्दमय, कितना शान्तिदायक ! भाभी अन्दर देवी के सामने औंधे मुंह गिरकर रो रही थी, मैं बाहर अंधेरे में घुटनों के बल खड़ी शोक, लज्जा, क्षोभ और

आनन्द के मिले-जुले आंसू बहा रही थी। जो आत्मिक उल्लास इन आंसुओं में था, वह बड़ी से बड़ी खुशी में भी नहीं।

दूसरे दिन मैं और भाभी उनके पास बैठी हंस-हंसकर बातें कर रही थीं। आज वह मुझे स्त्री न मालूम होती थी, देवी मालूम होती थी, जो दुनिया को पवित्र प्रेम-मार्ग दिखाने के लिए स्वर्ग से उतर आई हो। अब मैंने उसका मन पढ़ लिया था, उसकी आत्मा को देख लिया था। अब वह संदेह नाम को भी न रहा था। उन्होंने भाभी की तरफ देखा और कहा, "आज तुम फिर यहां आ गईं, क्या तुम्हें प्रकाश का भय नहीं है ?"

भाभी—भय तो है, मगर तेरा प्यार नहीं मानता।

वे—क्या मजे से मेरी चारपाई पर बैठी हुई है, कोई देख ले तो क्या कहे, क्यों प्रकाश !

मैं—कहना क्या है, जो मां-बेटे की आंखें भी न पहचाने उसका अपना दोष है।

वे—इस कमरे से निकाल दूं तो कैसा रहे ?

मैं—मगर ये तो मेरे दिल में बैठ गईं। इन्हें वहां से कौन निकालेगा ?

उन्होंने मेरी तरफ मद-भरी दृष्टि से देखा और बोले, "अरे ! दिल में इसे बैठा लिया तो मुझे कहां बैठाओगी ? बोलो।"

मैं—तुम्हारे लिए इस देवी का दिल कम नहीं है। जो आदर और आराम तुम्हें यहां मिल सकता है, और कहीं न मिलेगा।

भाभी ने मेरी तरफ मां की स्नेहमयी दृष्टि से देखा और मुस्कराकर उनके सिर पर हाथ फेरने लगी।

अन्धकार

लाला रामनारायण अमृतसर के प्रसिद्ध व्यापारी थे। मिट्टी को भी हाथ लगाते तो सोना हो जाता। उनपर लक्ष्मी की विशेष कृपा थी। उनकी दो दूकानें थीं : एक कपड़े की, दूसरी अंग्रेज़ी दवाइयों की। उन्हें दोनों से मुनाफा होता था। किसी वस्तु का टोटा न था। भगवान ने सब कुछ दिया था, मगर कुछ भी न था। उनकी लड़कियां कई थीं, लड़का एक भी न था। यह पुत्र-अभाव उन्हें खाए जाता था, हर समय उदास रहते थे। बाहर जाकर तो कदाचित् हंस-बोल भी लेते, पर घर में आते ही उनकी आंखें अग्निमय हो जाती थीं। पार्वती समझती थी, इसमें मेरा कोई दोष नहीं। अब लड़के-लड़कियां पैदा करना किसीके अपने बस की बात थोड़े ही है ! परन्तु इसपर भी उसमें इतना साहस न था कि पति के सामने मुस्कराते हुए खड़ी हो जाए। वह घर में आते तो थर-थर कांपती रहती कि कहीं गरज न उठें। सोचती, मेरे ही भाग्य में आग लगी है ; इसमें किसीका दोष नहीं। लोगों के यहां कई-कई लड़के पैदा होते हैं, पत्थरों के लिए मैं ही रह गई हूं। सास कहती, "मेरे मोती जैसे बेटे को अभागिन मिल गई। चेहरा कैसा दमकता था, जैसे अनार का लाल दाना हो। पर अब वह बात ही नहीं। न होंठों पर वह मुस्कान है, न आंखों में वह ज्योति। देह पहले से आधी भी न रही। अन्दर ही अन्दर घुला जाता है।" रामनारायण ये बातें सुनते तो और भी दुःखी हो जाते। कहते, "मां ! तुम ऐसी बातें न किया करो। जो वस्तु भाग्य में न

लिखी हो, उसके लिए रोना निष्फल है। मैंने समझ लिया है हमारे वंश का नाम-निशान मिटके रहेगा, हमारे भाग्य में पुत्र-सुख नहीं लिखा। तुम कुढ़ती हो, मुझे रोना आता है।" पार्वती ये बातें सुनती तो उसके दिल में तीर से चुभ जाते। पहरों रोती और प्रारब्ध को गालियां देती रहती। वह भागवान घर में आई थी, पर अभागिन बनकर आई थी, जैसे खीर के थाल में लाल मिर्च पड़ जाए। उसे और सारे सुख थे, एक यही न था। उसने इलाज किया, साधु-सन्तों से भस्म की चुटकी ली, व्रत रखे ; मगर भाग्यरेखा न बदली। यहां तक कि कई वर्ष बीत गए, परन्तु पार्वती का आशा-अंक पुत्र-मणि से न भरा। लड़कियां चार थीं, लड़का एक भी न था।

२

एक दिन गली में एक ज्योतिषी आया। बच्चों के लिए रीछ और स्त्रियों के लिए ज्योतिषी दोनों समान हैं। स्त्रियों को तमाशा हाथ लग गया। बढ़-बढ़कर हाथ दिखाने लगीं। ज्योतिषी बातें बनाता था, पैसे बटोरता था। कैसा अच्छा व्यापार है! किसीका माल नहीं बिकता, किसीकी बातें बिकती हैं। स्त्रियां पैसे देती थीं और हंसती थीं। मगर पार्वती घर बैठी अपने दुर्भाग्य को रो रही थी।

इतने में उसकी सास ने कहा, "पार्वती, ज़रा इधर आकर तू भी पंडित जी को हाथ दिखा ले।"

पार्वती ने नैराश्य भाव से उत्तर दिया, "हाथ दिखाने से क्या होगा!"

"मगर हर्ज ही क्या है! दिखा ले।"

पार्वती का जी न चाहता था कि हाथ दिखाए, परन्तु सास के भय से उसने उठकर हाथ ज्योतिषी के सामने कर दिया। सब स्त्रियां चुपचाप खड़ी हो गईं। यह हस्त-निरीक्षण न था, भाग्य-निरीक्षण था। ज्योतिषी ने हाथ की रेखाओं को देखा और धीरे से कहा, "तुम्हारे मन में हमेशा क्लेश रहता है।"

पार्वती की सास ने सिर हिलाकर कहा, "ठीक है पंडित जी।"

ज्योतिषी —पर यह क्लेश मन का है, शरीर का नहीं।

सास—यह भी सच है।

ज्योतिषी—इसके कन्याएं होती हैं, लड़का नहीं होता।

स्त्रियों ने कहा, "देखा ! ये विद्या की बातें हैं। जो चार अच्छर पढ़ जाते हैं, वे कहते हैं, जोतस सासतर सब झूठ है। अब कहो, सच बताया या नहीं ?"

ज्योतिषी—इसका पति भी बहुत दुःखी रहता है।

सास—महाराज, यह भी सच है।

ज्योतिषी—इसके और नच्छत्तर तो सब अच्छे हैं, केवल एक नच्छत्तर अशुभ है। यह सब उसीका फल है।

सास—महाराज तो अन्तरजामी हैं। अब यह देखें, इसके भाग में बेटा है या नहीं।

ज्योतिषी ने अच्छी तरह देखकर उंगलियों पर हिसाब किया और इसके बाद शोक से सिर हिलाकर कहा, "नहीं।"

उत्तर साधारण था, पर पार्वती का दिल बदल गया। उसकी देह से पसीना छूटने लगा, जैसे उसके जीवन से जीवन की सकल आशाएं और उमंगें प्रस्थान कर गई हों। उसने हतभागों की तरह भूमि की ओर देखा और रुक-रुककर पूछा, "इसका कुछ उपाय भी है या नहीं ?

ज्योतिषी—उपाय है, परन्तु करना बड़ा कठिन है।

पार्वती—मैं सब कुछ कर लूंगी।

ज्योतिषी—रात को श्मशान में बैठकर जाप करना होगा। कर सकोगी ?

पार्वती का चेहरा फीका पड़ गया। आशा सामने आई थी, ओझल हो गई। पार्वती फिर उदास हो गई, जैसे कोई बाज़ी जीतते रह जाए।

ज्योतिषी—तुम उदास न हो। तुम्हारे खातिर यह काम मैं कर दूंगा। भय बहुत है, सिद्धि के समय भूत सामने आकर खड़े हो जाते हैं। अनजान

आदमी सहमकर मर जाए। परन्तु भूत हमारा क्या बिगाड़ लेंगे, चाहें तो पल-भर में भस्म कर दें। हमारे शब्दों में आग है। एक मन्त्र पढ़ें तो चिल्लाकर भाग निकलें।

पार्वती की आंखें आशापूर्ण हो गईं, जैसे देवी का वरदान मिल गया हो। सास का चेहरा आशा की आभा से लाल था। उसे विश्वास हो गया कि अंब ज़रूर लड़का होगा। करामाती पंडित रेख में मेख मार सकता है। ज्योतिषी जी की खातिर होने लगी। उसने जो कुछ मांगा, वही दिया। पार्वती और उसकी सास 'न' नहीं करती थीं। कभी काले बकरे के लिए रुपया मांगता, कभी सोने-चांदी के लिए। उसे आज तक न ऐसा अमीर घर मिला था न ऐसे अन्धे श्रद्धालु। दोनों हाथों से लूटता था, और वे लुटवाते थे। हर मंगलवार को गरीबों को रोटियां बांटी जाती थीं। ज्योतिषी जी ने पार्वती को एक मन्त्र सिखा दिया था। वह नहाकर पन्द्रह मिनट जाप करती थी। खाना भूल सकता था, मगर इस मन्त्र का जाप न भूल सकता था। अब इस मन्त्र ही पर जीवन की सारी अभिलाषाएं अवलम्बित थीं। सदा शंका लगी रहती—कहीं यह कच्चा तागा टूट न जाए। वह इसे प्राणपण से बचाकर रखती थी, यहां तक कि मन्त्र की परीक्षा का दिन समीप आ गया। अब कुछ दिन बाकी थे।

३

पार्वती की रात-दिन खातिरदारियां होने लगीं। घर के लोग उसे कोई काम न करने देते थे ; कहते—आराम से बैठी रहो, सब कुछ हो जाएगा। रामनारायण ने कभी उससे सीधे मुंह बात न की थी। अब हंस-हंसकर बोलने लगे, जैसे उससे मनमुटाव था ही नहीं। मुंह हर समय खिला रहता। पार्वती को कभी तांगे की सैर कराने ले जाते, कभी थियेटर दिखाने। कहते—जो जी में आए मांग लिया करो, मन मारकर रह जाना स्वास्थ्य को खराब कर देता है। पार्वती को ये नौ महीने गुज़रते मालूम न हुए। संसार के सारे सुख, सारे आराम पर्याप्त थे। जो

कहती, वही हो जाता। किसीको दम मारने की मजाल न थी। पहले दासी थी, अब रानी बनी। सास जो दिन-रात हृदयवेधी ताने मारती थी, अब ऊंची आवाज़ से बोलते हुए भी डरती थी—कहीं पार्वती क्रोध न कर बैठे, कहीं उसका जी न खराब हो जाए। पार्वती की ऐसी खातिर, ऐसी खुशामद कभी न हुई थी।

एक दिन रामनारायण बोले, "ज्योतिषी कहता है, सौ रुपये से एक भी पैसा कम न लूंगा।"

पार्वती—वह समय तो आ ले, देखा जाएगा।

रामनारायण—मेरा दिल कहता है, अब के लड़का ही होगा।

पार्वती—लच्छन तो मुझे भी अच्छे मालूम होते हैं। दिल में ऐसे-ऐसे विचार आते हैं कि तुमसे क्या कहूं!

रामनारायण—बस ठीक है। लड़का ही होगा।

पार्वती—जी चाहता है, फल और मिठाइयां ही खाती रहूं। रोटी की तरफ देखने से भी घृणा होती है।

रामनारायण—खटाई पर तो दिल नहीं दौड़ता?

पार्वती—कभी ख्याल भी नहीं आता।

रामनारायण—जी कैसा रहता है?

पार्वती—बहुत प्रसन्न। पहले सदा उदासी छाई रहती थी। अब सुस्ती नाम को नहीं। जी चाहता है, सारा दिन सैर किया करूं। ऐसी दशा मेरी आज तक कभी न हुई थी।

रामनारायण—मेरा दिल भी यही कहता है कि अब की ज़रूर लड़का ही होगा।

पार्वती—(हंसकर) अगर लड़का हुआ तो मुझे क्या दोगे?

रामनारायण—जो मांगोगी, वही दूंगा। तुमसे बाहर थोड़ा हूं।

पार्वती—हीरे का हार मंगवा दोगे?

रामनारायण—अरे! हीरे का हार?

पार्वती—बस, बस! इतना ही देखना था, देख लिया।

रामनारायण—तुम तो वकीलों की तरह जिरह करती हो।

पार्वती—चलो रहने दो। मैं तुम्हारा दिल देखती थी। मुझे हार की क्या पड़ी है? तुम्हारी खुशी मिल जाए, यही सब कुछ है।

रामनारायण—मैं तुमसे कभी नाराज़ नहीं हुआ।

पार्वती—क्यों झूठ बोलते हो? तुम्हारी तो आंखें ही बदल गई थीं। मैं अनपढ़ हूं, पर अन्धी नहीं हूं। आंखें पहचानती हूं।

रामनारायण—तुम्हें धोखा हुआ होगा।

पार्वती—खैर! यह भी देखा जाएगा।

इसी तरह नौ महीने बीत गए, प्रसव-काल आ पहुंचा। रामनारायण बाहर बैठे घबराते थे, उनकी मां अन्दर घबराती थी। ज्यों-ज्यों समय गुज़रता जाता था, उसकी उत्सुकता बढ़ती जाती थी—देखें, क्या हो, क्या न हो! चेहरे का रंग क्षण-क्षण में बदल रहा था। कभी आशा, कभी निराशा, कभी व्याकुलता। उनकी सकल इच्छाएं, समस्त उल्लास, सारे उद्‌गार आंखों में आ बैठे थे। उनके जीवन का आधार अब केवल एक शब्द पर था। यह खेती एक छींटे की प्यासी थी। यह लता एक झोंके की भूखी थी।

सहसा अन्दर से नवजात बालक के रोने की आवाज़ आई। रामनारायण चौंककर खड़े हो गए और सवेग अन्दर को चले। वे अभी आंगन ही में पहुंचे थे कि मां बाहर निकल आई। इस समय उसकी आंखों में आंसू थे, मुंह पर क्रोध, जैसे अग्नि की ज्वाला में पानी की बूंदें जल रही हों। रामनारायण के पांव वहीं रुक गए। अब उनमें आगे बढ़ने की शक्ति न थी। यह लम्बा सफर, यह सुदूर यात्रा कितनी आशाओं को लेकर तय की थी! सब निराशा की भेंट हो गई। हृदय-क्षेत्र को पानी का छींटा न मिला। आशालता को वायु का झोंका प्राप्त न हुआ।

४

फिर लड़की ! रामनारायण का सिर चकराने लगा। निराशा जब चरम सीमा पर पहुंच जाती है तो हमारी जीभ बन्द हो जाती है। रामनारायण भी चुप हो गए। बहुत देर के बाद बोले, "अब तो जी चाहता है कहीं निकल जाऊं ; यहां मेरे दिल को शान्ति न मिलेगी।"

मां—धीरज धरो। घबराने से क्या होता है !

रामनारायण—वह ज्योतिषी मिल जाए तो मुंह नोच लूं। मुझे तो उसपर पहले ही विश्वास न था, मगर तुम्हारे ख्याल से चुप रहा। हजारों पर पानी फिर गया।

मां—मुझे क्या पता था, सब धोखा ही है !

रामनारायण—कहता था, जाप करूंगा तो लड़का हो जाएगा। सब वाहियात ढकोसले हैं। ऐसे महात्मा होते तो मांगते क्यों फिरते ? घर बैठे पांव पुजवाते।

मां—बेटा ! जब अपने ही कर्मों में न हो तो कोई क्या करे ? आदमी तो बुरा न था। जो-जो बात थी, खोलकर कह दी। सारा मुहल्ला वाह-वाह करता था। एक यह बात झूठ निकली। बाकी सब सच निकला।

रामनारायण—हमारे भाग ही खोटे हैं। अब मुझे आज्ञा दो, साधु होकर कहीं निकल जाऊं। घर में रहा तो पागल हो जाऊंगा।

मां—कैसी बातें मुंह से निकालते हो तुम ? भाग तुम्हारे क्यों खोटे होने लगे ? भाग उस अभागिनी के खोटे हैं, जिसे राजसिंहासन पर बैठकर भी आराम न मिला। मेरी मानो तो अब दूसरा ब्याह कर लो, इससे लड़का न होगा। बहुत बरदाश्त किया, अब नहीं सहा जाता।

रामनारायण—मैं मर जाऊंगा, पर यह न करूंगा। मैं आदमी हूं, राक्षस नहीं हूं।

मां—अरे ! मैं उसे घर से निकाल देने को थोड़ा कहती हूं। यह भी पड़ी रहेगी। लोग दूसरा ब्याह लड़के के लिए करते हैं, शौक

के लिए नहीं करते। अगर इससे लड़का हो जाता तो हमारा क्या सिर फिरा हुआ था !"

रामनारायण—अब जो प्रारब्ध ही में न हो तो क्या किया जाए ?

मां—इसीलिए तो कहती हूं, दूसरा ब्याह कर लो। परमेश्वर कृपा करेगा।

यह बातचीत पार्वती ने सौर-गृह में लेटे-लेटे सुनी। वह पहले ही मर रही थी, यह बातचीत सुनकर और भी मर गई। उसे विश्वास हो गया कि अब यह ब्याह कभी न रुकेगा। आनेवाले दिन आंखों तले फिर गए। सोचने लगी, क्या होगा ? अभी यह हाल है तो ब्याह के बाद क्या होगा ? सभी दुतकारेंगे। सब नई बहू को पूछेंगे। मुझे कोई भी न पूछेगा। यह अनादर, यह अपमान, यह तिरस्कार कैसे सहूंगी ? पार्वती ने अपने सिर पर ज़ोर से थप्पड़ मारा, और रोकर कहा, "परमात्मा ! अब तो उठा लो। यह सहा नहीं जाता !"

हम रोते हैं इसलिए कि दूसरे हमें चुप कराएं, इसलिए नहीं कि हमें और भी रुलाएं। पार्वती इसी ख्याल से रोई थी। लेकिन उसकी सास ने जब यह शब्द सुना तो वे और लाल-पीली हो गईं और उच्च स्वर में सुनाकर बोलीं, "तेरे भाग में मौत नहीं, मौत तो हमारे भाग में है। बैठी राज करती है और छाती पर मूंग दलती है।"

ये शब्द नहीं थे, ज़हर में बुझे हुए तीर थे। पार्वती की आंखें अग्निमय हो गईं। उसकी सारी देह जलने लगी। रगों का रुधिर इस तरह खौलता था, जैसे कढ़ाई में तेल खौलता हो। सहसा रामनारायण अन्दर आ गए और प्यार से बोले, "पार्वती ! धीरज धरो। लड़के-लड़कियां दोनों बराबर हैं। माता जी जोश में आकर जो जी में आता है, कह देती हैं। मगर उनकी नीयत खोटी नहीं। भोली हैं, इतना नहीं समझतीं कि जिनके यहां बेटे नहीं होते, वे मर थोड़ा ही जाती हैं। तुम ऐसी बातों की चिन्ता न किया करो, नहीं बीमार हो जाओगी।"

पार्वती चौंक पड़ी। उसे आश्चर्य था कि ये मीठे शब्द रामनारायण के मुंह से कैसे निकले ! वह आज तक यही समझती थी कि ये बेटे का मुंह देखने को तरस रहे हैं। अभी-अभी मां-बेटे में जो-जो बातें हो रही थीं, उनसे भी यही प्रकट होता था। एकाएक यह परिवर्तन क्यों ? पार्वती ने बहुत सोचा, मगर कोई बात उसकी समझ में न आई। उसे आश्चर्य हुआ। पर इस आश्चर्य से बढ़कर प्रसन्नता हुई। उसने कातरदृष्टि से अपने पति की तरफ देखा और आंखें बन्द कर लीं। उसके सब पराए थे, केवल पति अपना था। मगर उसके लिए यही सब कुछ था।

५

परतु कुछ दिन के बाद पति भी अपना न रहा। रामनारायण ने दूसरा ब्याह कर लिया। पार्वती पर दुःख का पहाड़ टूट पड़ा। उससे कोई सीधे मुंह बात भी न करता था; सब नई दुलहिन की सेवा में लगे रहते थे। अब नई दुलहिन घर की सब कुछ थी, पार्वती कुछ भी न थी। यहां तक कि उसका मान दासियों के बराबर भी न था। अब वह किसी काम में दखल न देती। चुपचाप अपनी कोठरी में पड़ी रहती। जो मिलता, खा लेती; जो हाथ आता, पहन लेती। अब उसे किसीकी कड़वी बात पर क्रोध न आता था, न जली-कटी बातें सुनकर आंखें सजल होती थीं। कभी ज़रा से कटु भाषण पर उसके शरीर में आग लग जाती थी। उस समय वह घर की रानी थी। मगर अब उसका सिंहासन छिन चुका था। अब उसके पति ने उसे मन-मन्दिर से निकाल दिया था। अब वह रानी नहीं थी, भिखारिन थी। भिखारिन को क्रोध करने का अधिकार किसने दिया है ! परमात्मा ने भी नहीं। भिखारिन कुछ दिन मुफ्त की रोटियां फाड़ती रही, फिर काम करने लगी। पहले रानी से भिखारिन बनी थी, अब भिखारिन से दासी बनी।

उधर दयावती सारे घर पर शासन करती थी। वह हंसती, तो घर के लोग साथ हंसते; उदास होती, तो घर के लोग उदास हो जाते। ज़रा तेज

चलती, तो सास कहती, बेटी ! संभलकर चलो, नहीं पांव दुखने लगेंगे। ऊपर से नीचे उतरती तो कहती, कमर दर्द करने लगेगी। उसका ज़रा-सा सिर दुखता तो रामनारायण की जान पर बन आती। भागे-भागे डाक्टर के पास जाते और दवाओं की शीशियां उठा लाते। ननदें दयावती पर प्राण देती थीं। क्या मज़ाल जो उसकी इच्छा के विरुद्ध एक शब्द भी मुंह से निकल जाए। परन्तु इतना कुछ होने पर भी दयावती खुश न थी। उसके दिल में हर समय बुरी-बुरी भावनाएं उठा करतीं। एकान्त में बैठती तो फूट-फूटकर रोया करती। उसे हंसते-मुस्कराते देखकर किसीको सन्देह भी न हो सकता था कि उसके दिल में कोई प्राणघातक जलन, कोई दुःखदायक पीड़ा होगी। ऊपर ठंडा पानी लहरें मारता था, नीचे आग सुलगती थी।

रात का समय था। पार्वती ने बर्तन साफ किए, रसोईघर धोया और छोटी लड़की को लेकर अपनी कोठरी में चली गई। मगर उसके शरीर का एक-एक अंग टर्द कर रहा था। दूसरे दिन जागी तो सारा शरीर तप रहा था, और सिर उठाए न उठता था। पार्वती चुपचाप लेटी रही। उसमें हिलने की हिम्मत न थी, यहां तक कि नौ बज गए और चूल्हा गरम न हुआ। लड़कियां रोटी मांगती थीं और रोती थीं। पार्वती उनकी तरफ देखती थी और कराहती थी। यह हृदय-विदारक दृश्य देखकर दयावती का दिल पसीज गया। वह दयावती थी, उसमें दया का अभाव न था। उसने मुंह से कुछ न कहा, परन्तु रसोईघर में जाकर रसोई बनाने लगी।

इतने में पार्वती की सास ने पार्वती की कोठरी के बाहर आकर कहा, "परमात्मा करे, ऐसी बहू किसीको न मिले। खाने को हर घड़ी तैयार है, काम का ध्यान ही नहीं। नई दुलहिन बैठी काम करती है, यह रानी सेज पर लेटी है। कोई देखे तो क्या कहे ?"

पार्वती ने कराहकर उत्तर दिया, "क्या करूं ? बुखार हो रहा है।"

सास—यह सब बहाने मैं खूब जानती हूं। बुखार-उखार कुछ नहीं

है। बहाना है, बहाना।

पार्वती—मां जी ! बहाना तो मैंने आज तक कभी नहीं किया।

सास—बड़ी सतवन्ती है न तू। बहाना क्यों करने लगी ! कल सांझ तक बुखार न था। अब कैसे हो गया ?

पार्वती—अब यह मैं क्या जानूं ? रात को देह दर्द करती थी।

सास—देखना ! कहीं निमोनिया न हो जाए।

पार्वती—हो जाए तो क्या कहना ! मगर निमोनिया भाग्यवानों को होता है। अभागों को वह भी नहीं होता।

सास—भाग्यवान तो मैं ही हूं, अब मुझे मार। मुरदार गालियां देती है।

पार्वती—आप तो लड़ती हैं। मैंने यह कब कहा है ?

सास—मेरा सिर फिरा हुआ है न ?

पार्वती—शायद फिरा ही हो।

आग पर तेल पड़ गया। सास ने गरजकर कहा, "अगर फिरा हुआ न होता तो तेरे जैसी कमजात लड़की को कैसे ब्याह लाती ? परनाले का पत्थर चौबारे में लग गया।

पार्वती कमजात का शब्द सुनकर क्रोध न रोक सकी। बोली, "जाओ ! भीतर जाकर बको, मैं तो यों ही मर रही हूं। इलाज का ध्यान नहीं, लड़ने की धुन सवार हो गई। परमात्मा ऐसी सास दुश्मन को भी न दे।"

अब सहन करना सम्भव न था। पार्वती की सास रोने लगी और इतने जोर से रोई कि सारा मुहल्ला जमा हो गया। चीख-चीखकर कहती थी, "बहनो ! इस निर्लज्ज बहू ने मेरी पत उतार दी। मेरा जरा-सा लिहाज नहीं किया। रात को कहीं बुखार हो गया था। मैंने आकर पूछा—हकीम को बुला लूं। बस, इतनी-सी बात पर गालियां देने लगी। बोली, तुम्हें मेरे बुखार की क्या परवाह है ? तुम्हें उस समय मालूम होगा। जब तुम्हारे बेटे को और उसकी बेगम को बुखार चढ़ेगा, तब पूछूंगी—क्यों मां ! अब

हकीम को बुलवाऊं। मैंने कहा—मुझे गालियां दे लो, पर उस गऊ ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है ? इसपर नाम ले-लेकर रोने लगी, और मुझे कोसने लगी। वह गरीब न लेने में न देने में। अब तुम ही कहो, मैंने क्या बुरा किया ?"

मुहल्ले की सब स्त्रियां चुप थीं। वे जानती थीं, पार्वती ऐसी स्त्री नहीं। परन्तु उन्होंने मुंह से कुछ नहीं कहा। हम दुखिया के पक्ष में होते हुए भी उसकी सहायता नहीं करते। उलटा बाज़ वक्त उसके विरुद्ध बोल देते हैं। यही दशा स्त्रियों की थी। उनके दिल कहते थे, पार्वती निर्दोष है। सारा महाभारत बुढ़िया का मचाया हुआ है, मगर फिर भी उनमें सच बोलने का साहस न था। हम अपने लिए झूठ बोल सकते हैं, पर दूसरों के लिए सच भी नहीं बोल सकते।

सारा दिन बीत गया, पार्वती को कोई दवा न मिली। न उसके पास जाकर किसीने देखा कि गरीब जीती है, या मरती है। रामनारायण खाना खाने आए और दुकान को चले गए। सास धूप में लेटी रही। ननदें क्रोशिया लिए रूमाल बुनती रहीं। केवल पार्वती की अबोध लड़कियां थीं जो कभी उसके पास जा बैठती थीं, कभी बाहर निकल आती थीं। इनके अतिरिक्त एक और प्राणी भी था जो उसका सुख-दुःख अनुभव करता था। और वह दयावती थी।

६

हां, वह दयावती थी—पार्वती की सौत। वह पार्वती के लिए तड़पती थी, पार्वती के लिए रोती थी, मगर कुछ कर न सकती थी। वह इस घर में नई थी। उसे कोई कुछ कहता न था, वह स्वयं लज्जा से चुप रहती थी। उसे भय न मारता था, संकोच मारता था। हमारा दिल हमारा सबसे बड़ा दुश्मन है।

रात के दो बजे का समय था। पार्वती अपनी कोठरी में बेसुध पड़ी थी। एक ओर एक धुंधला-सा दीया टिमटिमा रहा था, मगर उसका तेल

समाप्त हो चुका था; और उसका प्रकाश धीरे-धीरे मर रहा था। यह मिट्टी का दीया न था, पार्वती के भाग्य का दीया था। कैसा तुच्छ, कितना छोटा! इसका प्रकाश अन्धकार में किस तरह विलीन हो रहा था! इसका जीवन मृत्यु के मुंह में किस तरह भागता हुआ जा रहा था!

इतने में दरवाजा खुला और दयावती धीरे-धीरे अन्दर आई। उसने पार्वती के चेहरे को देखा और ठण्डी आह भरकर उसके सिरहाने बैठ गई। इसके बाद उसने पार्वती का सिर अपनी जंघा पर रख लिया और उसके बालों में प्यार से उंगलियां फेरने लगी।

पार्वती ने घबराकर आंखें खोल दीं और कहा, "कौन?" उसको आशा थी, यह रामनारायण होंगे। दिन में मां के ख्याल से नहीं आए, अब आए हैं। अपना फिर भी अपना है, पराया कैसे हो जाएगा? मगर मुंह मोड़कर देखा तो सन्नाटे में आ गई। यह रामनारायण न थे, दयावती थी। पार्वती की आंखों में पानी आ गया। उसने एक क्षण तक दयावती के मुंह की तरफ ताका और उसके गले से लिपट गई। उसने जिन्हें अपना समझा था, वह पराये निकले। मगर जो पराया था, वह अपना बन गया। दुनिया के रास्ते कैसे निराले, कितने अद्भुत हैं!

दयावती ने पार्वती को चारपाई पर लिटाकर पूछा, "कोई दवा नहीं खाई?"

पार्वती—नहीं, मेरी परवा किसे है जो दवा खाऊं?

दयावती—तो बुखार कैसे उतरेगा?

पार्वती—भगवान उतार देगा।

दयावती—नहीं। तुम्हें दवा खानी होगी। इस घर के आदमी सभी राक्षस हैं। बहन! तुम्हें विश्वास न होगा, मैं तुम्हारे लिए सारा दिन कुढ़ती रही हूं। तुम्हारे साथ सख्ती होती है, तो मेरा दिल रोने लगता है। जी चाहता है, तुम्हारे गले से लिपट जाऊं। पर घरवालों का ख्याल रास्ते में खड़ा हो जाता है। सोचती हूं, क्या कहेंगे। सौ-सौ बातें बनाएंगे। मगर अब यह बेपरवाई न होगी।

पार्वती ने धुंधले दीये की तरफ देखते हुए कहा, "बहन ! अब तो जी चाहता है, कुछ खाकर सो रहूं। सब कुछ देख लिया, और क्या देखूंगी ? अब यह अधोगति नहीं सही जाती। अब तो मौत ही आ जाए।"

दयावती—अधीर क्यों होती हो ? ये दिन भी गुज़र जाएंगे।

पार्वती—प्रारब्ध में यह लिखा है, यह मालूम न था। मालूम होता तो जोगिन बन जाती।

दयावती—जोगिन बनना इतना आसान होता तो आज संसार में चारों तरफ जोगिनें ही जोगिनें नज़र आतीं।

पार्वती—आज का हाल तो तुमने स्वयं देख लिया होगा। बताओ, मेरा क्या दोष है ?

दयावती—खूब देख लिया, ज़्यादती सारी उनकी है। तुम्हारा दोष नहीं है, इसे सारा जहान जानता है।

पार्वती—कहने लगीं, गालियां देती है।

दयावती—अब लड़कियां होती हैं, तो इसमें तुम्हारा क्या पाप ? यह कोई अपने बस की बात थोड़े ही है।

पार्वती—वह तो समझते हैं कि यह जान-बूझकर लड़कियां जनती है।

दयावती—आदमी को कुछ समझना-सोचना भी चाहिए।

पार्वती—जब देखो, तने रहते हैं।

दयावती—और तुम्हारा कोई दोष नहीं।

पार्वती—जीना दूभर हो गया। हर समय सहमी रहती हूं।

दयावती—पर मेरी तरफ से मन साफ कर लो। मैं तुम्हें बड़ी समझती हूं।

पार्वती—मेरा मन तुमसे पहले ही साफ है।

दयावती—मेरे कारण तुम्हें ज़रा भी कष्ट न होगा।

पार्वती ने दयावती को गले लगा लिया और स्नेहपूर्ण स्वर में कहा, "तूने मुझे बचा लिया। मैं समझती थी, इस घर में मेरे दुश्मन ही

दुश्मन हैं, हितचिन्तक कोई नहीं। परन्तु तूने मेरा विचार बदल दिया। अब मुझे इतनी शान्ति है कि कम से कम मुझे तू तो बेगुनाह समझती है।"

सहसा दीया बुझ गया। चारों तरफ अन्धकार फैल गया। इस अन्धकार में पार्वती और दयावती दोनों छिप गईं। क्या उनके भाग्य का दीया भी बुझ गया!

७

पार्वती महीना-भर बीमार रही। दयावती ने सेवा-शुश्रूषा में दिन-रात एक कर दिया। उसे हर समय यही चिन्ता रहती थी कि पार्वती किसी तरह बच जाए। वह उसके सिरहाने से न उठती थी। नियत समय पर दवा देती, समय पर दूध। रात को सोते-सोते चौंक उठती और उसे देखती कि सोती है या जागती है। ऐसी चिन्ता, ऐसी व्यग्रता, ऐसी उत्सुकता से किसी मां ने अपने बच्चे का इलाज भी न किया होगा। उसे सास समझाती थी, पति रोकता था, मगर वह किसीकी न सुनती थी। कहती, इसकी सेवा मैं करूंगी। यह दुखिया है। इसके मन-मन्दिर में प्रेम की जोत जलती है। इसने मेरा मन मोह लिया है। पार्वती की लड़कियां दयावती की आवाज़ सुनतीं तो उनकी तबियत हरी हो जाती और इस तरह लपककर आतीं, जैसे वह उनकी मां हो। उनके रहने-सहने का, खाने-पीने का सब प्रबन्ध वही करती थी। यह स्वर्गीय प्रेम; यह विशुद्ध, निर्मल, पवित्र दृश्य देखकर सारा मुहल्ला चकित था। ऐसी उदारता, ऐसी श्रद्धा, ऐसी प्रीति इस स्वार्थमय संसार में, इस द्वेषपूर्ण दुनिया में उन्होंने पहले न देखी थी। सौत को देखकर स्त्री के शरीर में आग लग जाती है, उसकी आंखों से क्रोध की चिनगारियां निकलने लगती हैं। यहां वही सौत सौत की सेवा करती थी। यह प्रेम कितना महान, कितना स्वच्छ था! इसमें आत्मसमर्पण था, विषय-वासना न थी; सेवा का शौक था, फल की इच्छा न थी। यह पति-पत्नी

का प्रेम न था, दो महिलाओं का स्नेह था। यह दो सौतों का प्यार न था, दो सखियों की प्रीति थी।

धीरे-धीरे पार्वती की देह में ताकत आने लगी। दयावती ऐसी खुश थी, जैसे कोई राज्य जीत लिया हो। अब वे दो सखियां थीं ; सारा दिन एक जगह बैठी रहतीं और बातें करतीं। दयावती सोचती, यह दुखिया है, इससे अन्याय हो रहा है। पार्वती सोचती, मेरी सौत है तो क्या हुआ, पर इसका दिल प्रेम का सागर है। मुझे देखकर खुश हो जाती है। मेल ने दोनों को प्रेम-सूत्र में बांध दिया। कुछ देर सखियां बनी रहीं, फिर बहनें बन गईं। पार्वती से सास का व्यवहार वैसा ही कठोर था, परन्तु रामनारायण कभी-कभी हंसकर भी बोल लेते थे। और दयावती सबकी आंखों की पुतली थी।

इसी तरह एक वर्ष बीत गया। पार्वती कुछ महीने के लिए मायके गई। लौटी तो दयावती की अवस्था ही और थी। न गालों पर वह मोहनी थी, न आंखों में वह जादू। ऐसा मालूम होता था, जैसे दयावती वह दयावती ही नहीं। पार्वती सोलह साल की सुकुमारी छोड़कर गई थी, अब उसे चालीस साल की बुढ़िया मिली। पार्वती पर वज्राघात हुआ। उसने दयावती का हाथ पकड़ा और उसे एकान्त में ले गई। वहां जाते ही बोली, "यह तुझे क्या हो गया ?"

दयावती—हुआ तो कुछ भी नहीं।

पार्वती—पहचानी नहीं जाती। तेरी सूरत ही बदल गई।

दयावती—चल झूठी ! मुझे छेड़ती है। तेरी आंखें बदल गई होंगी।

पार्वती—गालियां देती है। ज़बान भी बदल गई।

दयावती—अब तुमसे बातों की बाज़ी में तो मैं कभी न जीतूंगी।

पार्वती—अच्छा तो ठीक-ठाक बता दे; छिपाने से कुछ न होगा।

दयावती—तुम्हारे वहम का इलाज कौन करे ?

पार्वती—सास से लड़ाई तो नहीं हो गई ?

दयावती—बिलकुल नहीं। वे मुझे मां से ज़्यादा चाहती हैं।

पार्वती—उनसे झगड़ा हो गया है ?

दयावती—वे ऐसे आदमी ही नहीं।

पार्वती—बीमार रही है क्या ?

दयावती—(हंसकर) हां, बुखार चढ़ता रहा है।

पार्वती—तो मालूम हुआ, मुझसे छिपाती है। अब न पूछूंगी।

दयावती रोने लगी। उसको ऐसा मालूम हुआ कि उसके शरीर को तोड़कर प्राण-पंछी बाहर निकल जाएगा। सिसकियां भरते हुए बोली, "बहिन ! मुझे कोई रोग नहीं है। मुझसे किसीने दुर्व्यवहार नहीं किया। मुझे चिंतारोग खा रहा है। मुझे भय हो रहा है कि यह आदर, प्यार, आनन्द के दिन कुछ ही दिनों के मेहमान हैं। इस सावन की धूप पर कोई विश्वास नहीं। इसकी आयु बहुत थोड़ी है। आज मुझे सब सिर-आंखों पर बैठाते हैं; लेकिन यह मान, यह सत्कार मेरे लिए नहीं, लड़के के लिए है। उनको लड़के की चाह ने दीवाना बना रखा है। सोचती हूं, अगर मेरे भी लड़की हो गई तो फिर क्या होगा ? सबकी आंखें बदल जाएंगी। यह चिन्ता है जो मुझे अन्दर ही अन्दर खा रही है। मैं इस दुःख से घुली जा रही हूं और मुझे विश्वास हो गया है कि मेरे लड़की होगी और मैं न बचूंगी।"

यह कहकर दयावती रोने लगी। पार्वती के शरीर के रोंगटे खड़े हो गए। उसके मुंह से कुछ न निकला, एक शब्द भी नहीं, न हां, न ना। उसने दयावती का सिर खींचकर अपने गले से लगा लिया और रोने लगी। मगर उसका दिल कह रहा था, 'अगर तू मरी, तो मैं भी जीती न रहूंगी।'

आखिर वह दिन आ गया, जिसकी सबको प्रतीक्षा थी। रामनारायण ने दोनों बहिनों को बुला भेजा था। एक दाई रखी, एक लेडी डाक्टर। खाना बनाने के लिए एक स्त्री अलग थी। लेडी डाक्टर ने कह दिया था—लड़का होगा। रामनारायण ऐसे खुश थे, जैसे किसी भिखारी को राजसिंहासन मिल जाए। उछलते फिरते थे। उनके पांव धरती पर न पड़ते थे। नौकर

से कहा--इनाम मिलेगा। मुहल्लेवालों से कहा--मिठाई बांटेंगे। इष्ट मित्रों से भोजन देने की प्रतिज्ञा की।

संध्या का समय था। रामनारायण के घर में स्त्रियां दौड़ती फिरती थीं। कानों पड़ी आवाज़ सुनाई न देती थी। लेडी डाक्टर सख्ती के साथ हुक्म देती थी और लड़ती थी। मगर कोई बुरा न मानता था। कहीं गरम पानी पड़ा था, कहीं रुई के फाहे कतरे जा रहे थे। पार्वती उड़ी फिरती थी। दिल में प्रार्थना करती थी कि दयावती के लड़का हो, लड़की न हो। अगर लड़की हुई तो हम दोनों की मौत है। अब तो केवल मैं ही अभागिन हूं, फिर दयावती को भी कोई न पूछेगा। अभी उसकी खातिर कभी-कभी कोई मेरी भी सुध ले लेता है, फिर यह बात भी न रहेगी।

रामनारायण दरवाज़े में बैठे माला फेरते थे और प्रार्थना करते थे कि प्रभु! यह नैया पार लगा दे। कभी-कभी यह भी विचार आता था कि पार्वती से अन्याय हुआ है। लड़का हो जाए तो उसके साथ ज़रा सख्ती न करूं। ऐसी एकाग्रता, ऐसी लगन, ऐसी श्रद्धा से उन्होंने कभी प्रार्थना न की थी। संकट हमें परमात्मा का भक्त बना देता है। वैभव में परमात्मा का कभी ध्यान ही नहीं आता। एकाएक अन्दर से कुछ आवाज़ें आईं। रामनारायण ने माला के मनके ज़ोर-ज़ोर से फेरने शुरू कर दिए। घबराए हुए कहते थे, "परमात्मा! कृपा करो। तुम्हारे बिना और किसीका सहारा नहीं।" इतने में रामनारायण की मां आकर दरवाज़े पर खड़ी हो गई। रामनारायण ने पूछा, "क्या हुआ?"

मां ने धीरे से जवाब दिया, "लड़की।"

रामनारायण की उठती हुई उमंगें बैठ गईं। जैसे कबूतर उड़ना चाहता है और बाज़ को ऊपर मंडराते देखकर फिर वहीं बैठ जाता है। उन्होंने माला धरती पर पटक दी और निराशा से इधर-उधर टहलने लगे। किसी सेठ को अपना सर्वस्व लुट जाने पर भी इतना दुःख न होता।

थोड़ी देर बाद दयावती के पास लेडी डाक्टर और पार्वती के सिवाय

कोई भी न था। सब रामनारायण के गिर्द जमा थे। कोई शोक प्रकट करता था, कोई सांत्वना देता था। मगर रामनारायण बिलकुल चुप थे। चारों तरफ देखते थे और ठंडी सांसें भरते थे। दयावती का किसीको भी ख्याल न था।

सहसा पार्वती कमरे में आई और बोली, "दयावती मर गई।"

रामनारायण बैठे थे, यह सुनकर खड़े हो गए और बोले, "क्या कहा तुमने ?"

"दयावती मर गई। नवजात लड़की की भी कोई आशा नहीं।"

सारे घर में कुहराम मच गया। रामनारायण, उनकी मां, उनकी बहिनें सब रोने लगीं। उनके आर्तनाद से दुश्मनों के कलेजे भी छलनी होते थे। इस तरह रोती थीं जैसे उनका लड़का मर गया है। केवल पार्वती की आंख में पानी न था। वह कहती थी—कैसे छलिये हैं ! दिल में दया नहीं, आंख में आंसू हैं। परमात्मा करे, ऐसे धोखेबाज़ों के यहां कभी सन्तान न हो।

दूसरे दिन दयावती और उसकी लड़की दोनों की अर्थी उठी। घर के सब लोग साथ थे, केवल पार्वती न थी। उसे रात ही बुखार हो गया था। रामनारायण ने लड़कियों को उसके पास छोड़ा और स्वयं अर्थी के साथ चले गए।

दाह-कर्म करके लौटे तो घर में पार्वती की लाश पड़ी थी। और उसके पास उसकी अबोध कन्याएं बैठीं फूट-फूटकर रो रही थीं। उसने दयावती से कहा था—एकसाथ जिएंगी, एकसाथ मरेंगी। उसका वचन झूठा न निकला। वह दाह-कर्म के समय पछड़ गई थी, परन्तु परलोक-यात्रा में पीछे न रही। दोनों विप्रद्ग्रस्त स्त्रियां एक ही दिन दुनिया से रवाना हुई।

प्रेम-तरु

डेढ़ सौ साल बीत चुके हैं, परन्तु देवी सुलक्खी का नाम आज भी उसी तरह ज़िन्दा है। गुरदासपुर के ज़िले में कड़याला नाम का एक छोटा-सा गांव है, जहां ज़्यादा आबादी हिन्दू जाटों की है। वहां आप किसीसे पूछिए, वह आपको देवी सुलक्खी की समाधि का पता बता देगा। यहां प्रतिवर्ष मेला लगता है, स्त्रियां रंग-बिरंगे वस्त्र पहनकर आती हैं, और इसपर घी के दीये जलाती हैं। जब बेर पकते हैं तो सबसे पहले बेर देवी सुलक्खी की समाधि पर चढ़ाए जाते हैं, इसके बाद लोग खाते हैं। क्या मज़ाल कि इस समाधि पर बेर चढ़ाए बिना कोई बेर को मुंह भी लगा जाए ! दीवाली की रात को लोग पहले यहां दीये जलाते हैं, इसके बाद अपने घर में जलाते हैं। किसीमें इतना साहस नहीं कि देवी सुलक्खी की समाधि पर रोशनी किए बिना अपने घर में रोशनी कर ले। ब्याह के बाद दुलहिनें पहले यहां आकर नमस्कार करती हैं, इसके बाद अपने ससुराल में पांव धरती हैं। किसीमें हिम्मत नहीं कि गांव की इस रीति को तोड़ सके। देवी की समाधि गांव के मध्य में है। उसके ऊपर श्रद्धालुओं ने संगमरमर की एक सुदृढ़ और सुन्दर छत खड़ी कर दी है। इस छत के ऊपर एक झण्डा लहराता है, जो आसपास के गांवों से भी नज़र आता है। देवी सुलक्खी ने कोई संग्राम नहीं जीता, न कोई राज्य स्थापित किया, न कोई उसमें विशेष आत्मशक्ति थी जो लोगों के दिलों को पकड़ लेती, न उसने लोगों के लिए कोई बलिदान किया। वह एक

गरीब, सीधी-सादी, अनपढ़, परन्तु सतवन्ती ब्राह्मण-महिला थी, जो एक मूर्ख और हठी जाट के क्रोध का शिकार हो गई। उसने अपने पति से जो प्रण किया था, उसपर वह ध्रुव के समान अटल रही । इसमें सन्देह नहीं, वह साधारण ब्राह्मणों से भी गरीब थी, परन्तु पतिव्रत-धर्म की दौलत से मालामाल थी। वह मर्यादा की पुजारिन थी । उसने जो कहा था, वह करके दिखा दिया। उसके पति ने एक वृक्ष को अपनी सन्तान कहा था, सुलक्खी ने मरते दम तक पति के इस वचन को निबाहा । यही बात है जिसने उसे इतने दिनों के बाद आज भी गांव में जीती-जागती शक्ति बना रखा है। हिन्दू देवी-देवताओं का पूजन करते हैं, मुसलमान पीर-फकीरों को मानते हैं, परन्तु देवी सुलक्खी का शासन दोनों के हृदयों पर है।

२

देवी सुलक्खी इसी गांव के एक निर्धन ब्राह्मण जयचन्द की स्त्री थी। जयचन्द के घर में स्त्री के अतिरिक्त कोई भी न था—न मां, न बाप, न बहिनें, न भाई । बस, पति-पत्नी थे; कोई बाल-बच्चा भी न था। कुछ दिन इलाज करते रहे, परन्तु जब सारा परिश्रम निष्फल हुआ, तो भाग्य-विधान पर सन्तुष्ट होकर बैठे रहे। उस युग के ब्राह्मण लोग प्रायः नौकरी इत्यादि न करते थे। न धन-दौलत में उस समय ऐसी मोहिनी थी, न लोग धन को दुर्लभ समझकर उसकी प्राप्ति के लिए अधीर रहते थे। थोड़े में ही गुज़ारा हो जाता था। एक कमाता था, दस खा लेते थे। आज वह ज़माना कहां ! दस कमानेवाले हों, एक बेकार को नहीं खिला सकते। उस समय के ब्राह्मण सारा-सारा दिन पूजा-पाठ में लगे रहते थे। खाने-पीने को जाट यजमानों के यहां से आ जाता था । दोनों को किसी प्रकार की चिन्ता न थी । हां, कभी-कभी निःसन्तान होने पर कुढ़ा करते थे। यदि एक भी बच्चा हो जाता तो दोनों का मन बहल जाता। उनका जीवन मधुर प्रकाशमय तथा विनोदपूर्ण हो जाता। उनको

कोई शुगल मिल जाता। अब ऐसा मालूम होता था, जैसे उनका घर सूना-सूना है, जैसे उनका जीवन लम्बी, अंधेरी, समाप्त न होनेवाली रात है, जिसमें कोई तारा नहीं, चांद नहीं, केवल निराशा के काले बादल घिरे हुए हैं। उन बादलों में कभी-कभी, थोड़ी देर के लिए, आकाश की बिजली भी चमक जाती है; परन्तु उससे उनके दिलों का अन्धकार बढ़ता था, घटता न था। इसी तरह कई साल गुज़र गए।

एक दिन जयचन्द ने अपने आंगन के कोने में नवजात बच्चे के समान बेरी का एक पौधा देखा, जो स्वयं ही उग आया था। पौधा बहुत छोटा था और साधारण पौधों से ज़रा भी भिन्न न था; किन्तु जयचन्द को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो यह पौधा न था, प्रकृति का अद्भुत चमत्कार था। वे उसके छोटे-छोटे रग-रेशे और चिकनी-चिकनी ज़रा-ज़रा-सी कोंपलें देखकर बेसुध-से हो गए। शांति के पुतले पर अशान्ति छा गई। दौड़े सुलक्खी के पास गए और बोले, "आओ, कुछ दिखाऊं। भगवान ने हमारे घर में बूटा लगाया है, बड़ा सुन्दर है।"

सुलक्खी ने जाकर देखा तो एक नन्हा-सा पौधा था। बोली, "क्या है यह ? ऐसे प्रसन्न क्यों हो रहे हो ?"

जयचन्द—बेरी का पौधा है। अभी छोटा है, थोड़े दिनों में बड़ा हो जाएगा। इसमें हरे-हरे पत्ते आएंगे। मीठे-मीठे फल लगेंगे। लम्बी-लम्बी डालियां फैलाकर खड़ा होगा।

सुलक्खी ने पुलकित होकर कहा, "सारे आंगन में छाया हो जाएगी।"

जयचन्द—हर साल बेर लगेंगे। खूब मीठे होंगे।

सुलक्खी—मैं इसे सदा जल से सींचा करूंगी। थोड़े ही दिनों में बड़ा हो जाएगा। कब तक फलेगा ?

जयचन्द—(पौधे को प्रेम-भरी दृष्टि से देखकर) चार वर्ष बाद ! तुमने देखा, कैसा प्यारा लगता है ! बड़ा होकर और भी प्यारा लगेगा। कैसा चिकना और सुन्दर है ! देखकर मन खिल उठता है !

सुलक्खी—(सरलता से) गरमी के दिन हैं, कुम्हला जाएगा।

मुझे तो अब भी घबराया हुआ मालूम होता है। ज़रा कोंपलें तो देखो, जैसे प्यास के मारे व्याकुल हो रही हों। कहिए, ताज़ा जल भर लाऊं? गरमी से बड़ों-बड़ों का बुरा हाल है। यह तो बिलकुल नन्ही-सी जान है! (चुटकी बजाकर) अभी लाऊंगी दो मिनट में।

जयचन्द—इस समय तुम कहां जाओगी, मैं जाता हूं।

मगर सुलक्खी ने कलसा उठा लिया और चली गई। थोड़ी देर बाद दोनों पति-पत्नी उस छोटे-से पौधे को पानी से सींच रहे थे। ऐसे प्यार से, जैसे उनका जीता-जागता बच्चा हो; ऐसी भक्ति से जैसे उनका देवता हो; ऐसी श्रद्धा से जैसे कोई अमोल वस्तु हो। पौधा सच-मुच धूप से कुम्हलाया हुआ था। ठण्डा पानी पीकर उसने आंखें खोल दीं। सुलक्खी बोली, "देख लो अब इसमें ताज़गी आ गई है या नहीं, क्यों?"

जयचन्द—मुझे तो ऐसा मालूम होता है, जैसे यह मुस्करा रहा है।

सुलक्खी—और मुझे ऐसा मालूम होता है, जैसे हमसे बातें कर रहा है। कहता है—मैं तुम्हारा बेटा हूं।

जयचन्द—भाई! यह बात तो तुमने मेरे मुंह से छीन ली। मैं भी यही कहने जा रहा था। हां, बेटा तो है ही। इसे खूब प्यार करोगी न?

सुलक्खी—तुम्हारे कहने की क्या आवश्यकता है? अपने बेटे को कौन प्यार नहीं करता!

जयचन्द—मैं डरता हूं, कहीं मुझे न भूल जाओ। बड़ी उम्र में बालक पाकर स्त्रियां पति को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगती हैं; मगर मुझसे तुम्हारी लापरवाही सहन न होगी, यह अभी से कहे देता हूं।

सुलक्खी—चलो हटो! तुम्हें तो अभी से डाह होने लगी।

जयचन्द हंसते-हंसते घर के भीतर चले गए, परन्तु सुलक्खी कई घण्टे धूप में खड़ी बेरी की ओर देखती रही और खुश होती रही। आज भगवान ने उसके घर में रौनक भेज दी थी। आज उसको ऐसा अनुभव

हुआ, जैसे वह बांझ नहीं रही—पुत्रवती हो गई है। अबोध बालक छाछ को दूध समझकर खुश हो रहा था।

३

अब जयचन्द और सुलक्खी, दोनों को एक काम मिल गया। कभी बेरी को पानी देते कि कुम्हला न जाए; कभी खुरपी लेकर उसके आस-पास की ज़मीन खोदते कि उसे अपनी खुराक प्राप्त करने में दिक्कत न हो; कभी उसके इर्द-गिर्द बाड़ लगाते कि कोई जन्तु हानि न पहुंचाए; कभी दो चारपाइयां खड़ी करके उसपर चादर फैला देते कि गरमी में सूख न जाए। लोग यह देखते थे और उनकी इस मूर्खता पर हंसते थे। कोई-कोई कह भी देता था कि इनकी अक्ल मारी गई है, साधारण पौधे को पुत्र समझ बैठे हैं।

मगर प्रेम के इन सरलहृदय भक्तों को इसकी ज़रा भी परवाह न थी। उन्हें उस बेरी की कोंपलें बढ़ती देखकर वैसी ही प्रसन्नता होती थी जैसी माता-पिता को बच्चे के हाथ-पांव बढ़ते देखकर होती है। जयचन्द बाहर से आते, तो सबसे पहले बेरी की कुशल-क्षेम पूछते। सुलक्खी रात को कई बार चौंककर उठती और बेरी को देखने जाती। शायद उसे भय था कि कोई ऐसी अनमोल वस्तु को उखाड़कर न ले जाए। ऐसी चाह, ऐसी सावधानी से किसी गरीब विधवा ने अपने एकमात्र पुत्र का भी लालन-पालन शायद ही किया हो।

धीरे-धीरे यह प्रेम-तरु बढ़ने लगा। अब वह ज़मीन से बहुत ऊपर उठ आया था। उसका तना भी मोटा हो गया था। डालें भी बड़ी-बड़ी हो गई थीं। रात के समय ऐसा सन्देह होता था, जैसे वह बांहें फैलाकर किसीसे गले मिलने को अधीर हो रहा है। सुलक्खी उसे अपनी बेटी और जयचन्द उसे अपना बेटा कहते थे। उसे देखकर उनकी आंखें चमकने लगती थीं। उनका हृदय-कमल खिल उठता था। यह वृक्ष साधारण वृक्ष न था, उनके रात-दिन के परिश्रम का परिणाम था। इसके

लिए उन्होंने अपनी रातों की नींद कुर्बान की थी, इसपर उन्होंने अपने शरीर और आत्मा की सम्पूर्ण शक्तियां खर्च कर दी थीं।

इसी तरह प्यार-मुहब्बत और लाड़-चाव के चार वर्ष गुज़र गए और बेरी के फलने के दिन निकट आ गए। जयचन्द और सुलक्खी दोनों के मन की दशा अकथनीय थी। जब बौर आया तो दोनों सारा-सारा दिन आंगन में बैठे उसकी रक्षा किया करते थे कि कहीं कोई पास न फटक जाए। जयचन्द अब पहले की तरह पूजा-पाठ के पाबन्द न रहे थे। सुलक्खी को अब चरखे का ख्याल न था। साधारण वृक्ष के प्रेम ने उन्हें इस तरह बांध दिया था कि ज़रा हिलते भी न थे। हर समय इसीकी बात करते थे। उस समय वे इस संसार से बाहर चले जाते थे। सुलक्खी कहती, "तुम्हारे ख्याल में वह पीले रंग का बौर होगा, मगर मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि मेरी बेटी ने सोने के गहने पहने हैं। किस शान से खड़ी है!"

जयचन्द कहते, "यह मेरे बेटे की पहली कमाई है। इसे बौर कौन कहता है? यह मोहरें हैं, बल्कि मुझे तो इसके सामने मोहरें भी तुच्छ मालूम होती हैं। उन्हें मनुष्य बनाता है, इसे स्वयं भगवान ने अपने हाथों से संवारा है। इसके सामने मोहरें और अशरफियां किस गिनती में हैं? थोड़े दिनों में यह बेर बन जाएंगे। उनमें जो सुन्दरता, जो यौवन, जो मिठास होगी, वह सोने के उन सिक्कों में कहां?"

सुलक्खी कहती, "जिस दिन पहले बेर उतरेंगे उस दिन मिठाई बांटूंगी।"

जयचन्द कहते, "मैं रतजगा करूंगा। गांव के सारे लोगों को बुलाऊंगा। सारी रात रौनक रहेगी।"

सुलक्खी कहती—"खूब खर्च करना पड़ेगा।"

जयचन्द कहते, "लोग बेटों के ब्याहों में अपना धन लुटाते हैं। मेरे लिए यही बेटे का ब्याह है। सब कुछ खर्च हो जाए, तब भी परवाह नहीं, परन्तु एक बार दिल के अरमान निकल जाएं, कोई अभिलाषा शेष

न रह जाए।"

यह सुनकर सुलक्खी किसी दूसरी दुनिया में पहुंच जाती थी। उसके हृदयरूपी समुद्र में खुशी की तरंगें उठने लगती थीं, जैसे चांदनी रात में समुद्र में ज्वार-भाटा जाए।

४

आखिर वह दिन भी आ गया, जिसकी पति-पत्नी दोनों प्रतीक्षा कर रहे थे। पहले दिन बेरी के दो सौ बेर उतरे। यह बेर इतने मोटे, ऐसे गोल-मोल, ऐसे लाल, इतने सुन्दर और चिकने थे कि देखकर जी खुश हो जाता था। दोपहर का समय था। सुलक्खी ने पुराने ज़माने की हिन्दू स्त्रियों की तरह नये कपड़े पहने, लाल रंग की फुलकारी ओढ़ी। नाक में नथ पहनी और जाकर जयचन्द के सामने खड़ी हो गई, जैसे उस दिन उसके यहां कोई ब्याह-शादी थी। उसको इन वस्त्रों में देखकर जयचन्द मुग्ध-से हो गए। थोड़ी देर तक दोनों के मुंह से कोई बात न निकली। आंखें मूंदकर चुपचाप इस अलौकिक आनन्द से आनन्दित होते रहे। तब जयचन्द ने बेर टोकरी में रखे और सुलक्खी से कहा, "जा! जाकर यजमानों के यहां गिनकर बीस-बीस दे आ।"

सुलक्खी ने साहसपूर्ण नेत्रों से पति को देखा और प्यारभरी आवाज़ में कहा, "ईश्वर करे, खूब मीठे हों। लोग बेअख्तियार वाह-वाह कहें। आकर बधाइयां दें। कहें, ऐसे बेर सारे गांव में नहीं हैं।"

जयचन्द ने दस बेर अपने लिए रख लिए थे। उनकी ओर ताकते हुए बोले, "तू ख्वाहमख्वाह मरी जाती है। दूसरों के लिए मीठे न होंगे, न सही; पर हमारे लिए इनसे मीठी वस्तु संसार में और कोई नहीं है। यह मैं चखे बिना कह सकता हूं। जा, देर हुई जाती है। तू बांटकर आ जाए तो एक-साथ खाएं।"

सुलक्खी ने पति की ओर श्रद्धा से देखकर उत्तर दिया, "मैं एक-आध घर में दे लूं, तो तुम खा लेना। मेरी राह देखने की क्या

आवश्यकता है ?"

जयचन्द—वाह ! आवश्यकता क्यों नहीं ? एकसाथ खाएंगे । अकेले में क्या मज़ा आएगा ? ज़रा जल्दी लौट आना, नहीं लड़ाई होगी।

सुलक्खी ने छोटा-सा घूंघट निकाला और बेरों की टोकरी उठाकर बांटने चली, जैसे कोई ब्याह-शादी की मिठाई बांटने जा रही हो। थोड़ी देर में एक यजमान दौड़ा हुआ आया और बोला, "पण्डितजी ! बधाई है। बेर खूब मीठे हैं।"

जयचन्द का दिल धड़कने लगा। मुंह गुलाब हो गया। बोले, "अच्छा, आपने खाए हैं ?"

यजमान—खाए क्या हैं ! एक बेर चखा है। मगर वाह भई, वाह ! गुड़ से भी मीठा है। आम से भी मीठा है। कोई और बेर है या नहीं ?

जयचन्द की बांछें खिली जाती थीं। उन्होंने बेर उठाकर यजमान के हाथ में रख दिए। यजमान खाता जाता था और तारीफ करता जाता था। कहता था, "पण्डितजी ! यह बेर क्या हैं, चीनी के खिलौने हैं। मेरी इतनी आयु हो गई, मगर ऐसे बेर मैंने आज तक नहीं खाए। परमात्मा जाने, इनमें कैसा स्वाद है, मालूम होता है जैसे सुगन्ध भरी है।"

जयचन्द—परमात्मा ने हमारी मेहनत सफल कर दी।

यजमान—सारे इलाके में ऐसे बेर मिल जाएं तो मूंछें मुंडवा दूं। दूर-नज़दीक से लोग आया करेंगे। मालूम होता है, आपने अभी तक नहीं चखे।

जयचन्द—यजमानों को भेंट कर लूं, फिर खाऊंगा।

यजमान—हैरान रह जाओगे। ऐसे बेर काबुल-कन्धार में भी न होंगे। हमारे घर में दस-बीस बेरों से क्या बनता है ? देखते-देखते खतम हो गए। और बेर कब तक उतरेंगे ? हम बीस और लेंगे !

जयचन्द—आपका अपना वृक्ष है। दो-चार दिन तक और उतरेंगे

तो भिजवा दूंगा। मुझे दूसरों को खिलाकर जो प्रसन्नता प्राप्त होती है, वह खाकर नहीं होती। लीजिए, दो और ले जाइए। छः बाकी हैं। हम दोनों तीन-तीन खा लेंगे। हमें यही बहुत हैं।

थोड़ी देर बाद एक और यजमान आया। उसने भी इतनी तारीफ की कि जयचन्द की आंखें चमकने लगीं। बोला, "यह प्रेम का वृक्ष है, इसमें प्रेम के बेर लगे हैं। इससे मीठे संसार-भर में न होंगे। भई! इतनी मेहनत कौन करता है? आप दोनों ने एक मिसाल कायम कर दी है। दो बेर खाए हैं, दो और मिल जाएं तो मजा आ जाए। फालतू हैं या नहीं?"

जयचन्द ने मुस्कराकर कहा, "छः बचे हैं। दो आप ले जाइए। दो-दो हम खा लेंगे।"

यजमान—यह तो अन्याय होगा। रहने दीजिए। फिर सही। और बेर कब तक उतरेंगे?

जयचन्द—आप ले जाइए। हमें स्वाद देखना है। पेट थोड़ा भरना है। (बेर हाथ पर रखते हुए) रात रतजगा है। आइएगा ना? कोई बेटे का ब्याह करता है, कोई पोती-पोते का मुण्डन करता है। मेरी आयु में यही एक दिन आया है। यही खुशी का पहला दिन है, यही अन्तिम दिन होगा। और क्या?

यजमान—ज़रूर आऊंगा, पण्डितजी! मगर बेर खूब मीठे हैं, अभी तक मुंह से सुगन्ध आ रही है।

यह कहकर यजमान चला गया। इतने में दो और आ गए। पण्डितजी के पास चार बेर बाकी थे। वह उनकी भेंट हो गए। उनके पास अब एक भी बेर न था। पण्डितजी दिल में डरे कि सुलक्खी से क्या कहूंगा? कहीं खफा न हो जाए। तैश में आ जाए। परन्तु सुलक्खी इस प्रकार की स्त्री न थी। सारा वृत्तान्त सुनकर बोली, "आपने बहुत अच्छा किया। हमारा क्या है? फिर खा लेंगे। अपना वृक्ष है, जब चाहा, दो बेर तोड़ लिए। कहीं मांगने थोड़ा जाना है।"

जयचन्द—गांव में धूम मच गई है। कहते हैं—ऐसे बेर दूर-दूर तक नहीं हैं।

सुलक्खी की आंखों में आंसू आ गए। नथ को संभालते हुए बोली, "सभी कहते हैं—और दो। बेर क्या हैं, खोए के पेड़े हैं।"

जयचन्द—कहते हैं, इनमें सुगन्ध भी है।

सुलक्खी—जो खाता है, चटखारे लेता है। कहते हैं—ऐसा मजा न आम में है, न संतरे में।

जयचन्द—यह सब तुम्हारे परिश्रम का फल है। रोज़ पानी दिया करती थीं। तुम्हारे हाथों का पानी अमृत हो गया।

सुलक्खी—और जो तुम कपड़ों से छाया करते फिरते थे, उनका कोई असर ही नहीं? यह सब उसीका फल है।

जयचन्द—तुम देर में लौटीं। नहीं तो एक-एक खा लेते। अब दो-चार दिन के बाद पकेंगे।

५

परन्तु जयचन्द के भाग्य में बेर पकाना लिखा था, बेर खाना न लिखा था। रतजगे के बाद उनको सहसा बुखार हो गया। गांव में जैसा इलाज हो सकता था, हुआ। हकीम ने समझा, थकावट का बुखार है। साधारण ओषधियों से उतर जाएगा; परन्तु वह थकावट का बुखार न था, मृत्यु का बुखार था, जिसकी दवा दुनिया के बड़े से बड़े हकीम के पास भी नहीं थी। चौथे दिन प्रातःकाल जयचन्द सुलक्खी से घंटा-भर धीरे-धीरे बातें करते रहे। बातें क्या करते रहे, रोते और रुलाते रहे। दुनिया-दारी की बातें समझाते रहे। ये बातें उनके जीवन का सार थीं। सुलक्खी ये बातें सुनती थी और रोती जाती थी। इस समय उसका दिल बस में न था। वह चाहती थी, जिस तरह भी हो, पति को बचा ले। यदि उसके बस में होता, तो वह अपनी जान देकर भी उन्हें बचा लेती। इसमें उसे ज़रा भी संकोच न था, परन्तु जो भाग्य में बदा हो, उसे कौन रोक

सकता है। थोड़ी देर बाद इधर संसार का सूर्य उदय हो रहा था, उधर जयचन्द के जीवन और सुलक्खी की दुनिया का सूर्य सदा के लिए अस्त हो गया।

अब सुलक्खी संसार में बिलकुल अकेली थी। अब उसका सिवाय एक छोटे भाई के और कोई भी न था। थोड़े दिन रोती रही, इसके बाद चुप हो गई। इसलिए नहीं कि मृत्यु का शोक भूल गई, बल्कि इसलिए कि उसकी आंखों में आंसू न रहे थे। रो-रोकर आंसू भी समाप्त हो जाते हैं। मगर उसके दिल के घाव हमेशा हरे थे। उसे किसी तरह कल न पड़ती थी। पति की मृत्यु के बाद किसीने उसे हंसते हुए न देखा। न अच्छा खाती थी, न अच्छा पहनती थी। उसका ज़्यादा समय दुःखी लोगों की सेवा में गुज़रता था। गांव में कोई बीमार होता, सुलक्खी पहुंच जाती। फिर उसे सोना हराम था। सिरहाने से न उठती थी। हर समय सेवा में लगी रहती थी, जैसे मां बच्चे की तीमारदारी कर रही हो। जब वह स्वस्थ हो जाता, तब घर लौटती। उसकी इन सेवाओं ने गांववालों के मन मोह लिए। कहते थे—यह स्त्री नहीं, देवी है। अब उन्हें मालूम होता था कि यदि यह न हो, तो गांववालों पर विपत्ति टूट पड़े। उसे दुनिया की किसी वस्तु से प्रेम न था—किसी वस्तु की परवा न थी, जैसे उसने संन्यास ले लिया हो, जैसे उसने दुनिया की हर एक वस्तु का परित्याग कर दिया हो।

परन्तु एक वस्तु से उसे अब भी प्यार था, यह उसकी बेरी थी। वह अब भी उसका उसी तरह ख्याल रखती थी। उसको उसी तरह पानी देती थी। उसी तरह देख-भाल करती थी। गर्मी में उसके पत्तों को कुम्हलाया हुआ देखकर अब भी उसी तरह अधीर हो जाती थी। रात को चौंक-चौंककर अब भी उसे देखती थी। बाहर जाती तो भाई लछमन से कह जाती, बेरी का ख्याल रखना। जब बेर लगते, तो दो-तीन महीने उसके पास से न उठती ; कहीं ऐसा न हो, जानवर आकर कुतर जाएं। जब बेर उतरते, तो सारे गांव में बांटती, जिस तरह पहले साल बांटे थे। मगर आप

बेर को मुंह न लगाती थी। न पहले साल खाए थे, न अब खाती थी। उसका भाई लछमन खूब पेट भरकर खाता। वह कहता था, "ये बेर इस दुनिया के नहीं, स्वर्गपुरी के हैं।" कभी कहता, "ऐसे बेर स्वर्ग में भी न होंगे।" बहन से कहता, "तू भी चखकर देख।" वह कहती, "वे खाते तो मैं भी खाती। उन्होंने नहीं खाए, मैं भी नहीं खाऊंगी।"

लछमन कहता, "तू अभागी है।"

सुलक्खी उत्तर देती, "अभागी न होती, तो वे क्यों मरते? अब तो सारी आयु इसी प्रकार बीत जाएगी।"

गुरुदासपुर के कई दुकानदारों ने बेरी मोल लेनी चाही, पर सुलक्खी ने साफ इन्कार कर दिया। कहा, "मरती मर जाऊंगी, मगर बेरी न दूंगी।"

एक दुकानदार ने कहा, "दो सौ रुपया ले ले, बेरी दे दे।"

सुलक्खी ने उत्तर दिया, "तू दो हज़ार दे, तब भी न बेचूं। दो लाख दे, तब भी न बेचू।"

दुकानदार—तू अजब स्त्री है। न खाती है न बेचती है।

सुलक्खी—बांटती तो हूं। मेरे लिए यही खुशी की बात है। मैं नहीं खाती, क्या हुआ; सारा गांव तो खाता है।

दुकानदार—परन्तु इससे तुझे क्या मिल जाता है? जिसको बेर खाने की इच्छा होगी, पैसे देकर खरीद लेगा।

सुलक्खी ने दुकानदार की ओर करुणापूर्ण दृष्टि से देखा, और कहा, "मैं ब्राह्मणी हूं, कुंजड़िन नहीं, जो अपनी बेरी के बेर बेचू। न भाई! यह न होगा। तू अपने रुपये ले जा, मुझे यह सौदा स्वीकार नहीं।"

एक दूसरे दुकानदार ने कहा, "तू बेरी बेच दे तो मैं ५००) दूं। बोल, है इरादा?"

सुलक्खी—यह बेरी नहीं है, हमारी सन्तान है। अपनी सन्तान कौन बेचता है?

दुकानदार—यह तेरा भ्रम है। आदमी की सन्तान आदमी होता है, वृक्ष नहीं होता।

सुलक्खी—यह अपना-अपना विचार है। कई आदमी ऐसे भी हैं जो ठाकुर को पत्थर कहते हैं।

दुकानदार—मुझे तो वृक्ष ही मालूम होता है।

सुलक्खी—तेरी आंखों में वह जोत कहां, जो इसकी असली सूरत देख सके ? वृक्षों के बेर ऐसे मीठे कहां होते हैं ?

लछमन अब चुप था, यह सुनकर बोला, "ऐसे मीठे बेर तुमने कहीं और भी देखे हैं ? एक-एक बेर एक आने को भी सस्ता है।"

दुकानदार—यह ठीक है। किन्तु आखिर है तो बेरी।

सुलक्खी—नहीं भैया ! यह बेरी नहीं है, मेरे स्वामी की यादगार है। जो अपने स्वामी की यादगार को बेच दे, उसे मरकर नरक भी न मिलेगा।

दुकानदार—अब इसका क्या उत्तर दूं ? ५००) थोड़े नहीं होते। तेरी सारी आयु सुख से कट जाएगी।

सुलक्खी—भैया ! जो सुख मुझे इसको पानी देकर होता है वह सुख रुपये लेकर कभी न होगा।

दुकानदार—तो पानी देने से तुझे कौन रोकता है ? जितना चाहे पानी दे। अगर तेरा हाथ पकड़ जाऊं तो जो चोर की सजा, वह मेरी सजा।

सुलक्खी—परन्तु जो बात अब है, वह फिर कहां ? अब अपना है, फिर पराया हो जाएगा। अब बेर सारे गांव में बांटती हूं, फिर तू हाथ भी न लगाने देगा। गांव के जिन लोगों के पास पैसे नहीं, वह क्या करेंगे ? बेरों को देखेंगे, और ठंडी सांस भरकर रह जाएंगे। मुझे कोसेंगे, दिल में गालियां देंगे। अब सबको मुफ्त मिलते हैं फिर किसीको भी न मिलेंगे। गांव के छोटे-छोटे बच्चे कहेंगे, कैसी लोभिन है, चार पैसों की खातिर बेरी बेच दी। न भाई ! यह कलंक का टीका न खरीदूंगी। मैं

गरीब ही भली।

यह कहकर सुलक्खी बेरी के पास चली गई और उसकी डालियों पर हाथ फेरने लगी।

और यह उस स्त्री का हाल था, जिसने किसी पाठशाला में विद्या नहीं पढ़ी थी, जिसने कर्म-धर्म पर कोई व्याख्यान न सुना था, जिसके पास खाने को कुछ न था, जो अपने यजमानों के दान पर निर्वाह करती थी, परन्तु उसका हृदय कितना विशाल, कितना पवित्र था ! उसने पड़ोसियों के कर्तव्य को कितना ठीक समझा था, ऐसी पवित्र हृदया, सुशीला तथा सभ्या देवियां संसार में कम जन्म लेती हैं।

६

कई वर्ष बीत गए।

ज्येष्ठ का महीना था। सुलक्खी बेरी के सारे बेर बांट चुकी थी। अब बेरी पर एक बेर भी बाकी न था। सुलक्खी बेरी के पास खड़ी उसकी खाली डालियों को देखती थी और खुश होती थी कि इस साल का कर्तव्य भी पूरा हो गया। इतने में एक यजमान हाड़ीराम ने आकर सुलक्खी को नमस्कार किया और बोला, "पण्डितानीजी ! हमारे बेर कहां हैं ?"

सुलक्खी का मुंह कुम्हला गया। हैरान थी, क्या कहे, क्या न कहे। हाड़ीराम गांव में सबसे उजड्ड जाट था। जरा-जरा-सी बात पर जोश में आ जाता था और मरने-मारने को तैयार हो जाता था। उसकी लाल आंखें देखकर सारा गांव सहम जाता था। वह अपने परिवार-सहित दो महीने से कहीं बाहर गया हुआ था। सुलक्खी एक दो-बार उसके मकान पर गई और किवाड़ बन्द पाकर लौट आई। उसके बाद वह उसे भूल-सी गई और बेर समाप्त हो गए। और अब—

हाड़ीराम उसके सामने खड़ा था। सुलक्खी ने उसकी ओर सहमी हुई निगाहों से देखा और कहा, "यजमान, बेर तो खतम हो गए।"

हाड़ीराम ने ज़रा गर्म होकर कहा, "वाह ! खतम कैसे हो गए ? हमें तो मिले ही नहीं !"

सुलक्खी—तुम जाने कहां चले गए थे ? दो बार तुम्हारे मकान पर लेकर गई, दोनों बार दरवाज़ा बन्द था। लौट आई। इसके बाद मुझे ख्याल नहीं रहा।

हाड़ीराम—(त्योरियां चढ़ाकर) ख्याल क्यों नहीं रहा ? इतनी बच्ची भी तो नहीं हो।

सुलक्खी—(शान्ति से) अब यजमान ! तुमसे बहस कौन करे ; भूल हो गई। अगले साल दुगने ले लेना।

हाड़ीराम—खाना तो कभी नहीं भूलती हो, न फसल पर गल्ला मांगना भूलती हो, हमारे बेरों का समय आया तो भूल गई।

सुलक्खी—तुम बाहर चले गए थे। क्या करती ?

हाड़ीराम—वृक्ष में लगे रहने देती। मैं आता, उतार लेता।

सुलक्खी—और जो एक-एक कर गिर जाते, तो फिर ? अब किसीके मुंह में तो पड़ गए। उस अवस्था में किसीके भी काम न आते।

हाड़ीराम के नेत्रों से अग्नि की ज्वाला निकलने लगी। गरजकर बोला, "मेरे बेर जब मेरे काम न आएं तो मुझे क्या ; चाहे, रहें चाहे मिट्टी में मिल जाएं, मेरे लिए एक-सी बात है। तू दूसरों को देनेवाली कौन थी ?"

अब सुलक्खी को भी क्रोध आया। ज़रा तेज़ होकर बोली, "बेरी मेरी है, तुम्हारी नहीं। जिसको चाहूं, एक बेर भी न दूं ; जिसको चाहूं, सबके सब दे दूं। बेरी तुम्हारे हाथों बिकी हुई नहीं है। तुम बोलनेवाले हो कौन ?

हाड़ीराम—अच्छा, अब हम कौन हो गए !

सुलक्खी—(उसी तरह गुस्से से) मेहनत मैं करती हूं। रात-दिन मैं जागती हूं, फिर सारे के सारे बेर बांट देती हूं। आप एक बेर भी नहीं खाती। इसपर भी इतना क्रोध ! आखिर आदमी को कुछ सोचना भी

तो चाहिए। जाओ, नहीं दिए न सही। जो कुछ करना हो कर लो।

हाड़ीराम दांत पीसता हुआ चला गया। इधर सुलक्खी बेरी के पास जाकर उससे लिपट गई और बोली, "बेटी! अगर तुम्हारा बाप जीता होता, तो इसकी क्या हिम्मत थी जो इस तरह मेरी बेइज्जती कर जाता।

इससे तीसरे दिन सुलक्खी एक बीमार बच्चे की सेवा-शुश्रूषा कर रही थी कि एक लड़का दौड़ता हुआ आया और हांफता हुआ बोला, "तुम्हारी बेरी को हाड़ी ने काट दिया। कई लोगों ने मना भी किया, मगर वह कहता था, मुझे सुलक्खी ने गाली दी है। सारा आंगन भर गया है।"

७

सुलक्खी को ऐसा मालूम हुआ जैसे किसीने गोली मार दी है। वहां से चली तो उसे रास्ता न दिखाई देता था। उसके पांव तले से ज़मीन निकलती जा रही थी। उस समय उसके शरीर में ज़रा भी शक्ति न थी। पांव इस तरह लड़खड़ा रहे थे, जैसे अभी गिर पड़ेगी। मार्ग के दोनों ओर लोग खड़े उसको देखते थे और हाड़ी को गालियां देते थे। उस समय उन्हें सुलक्खी का विचार था, हाड़ी का भय न था। वे सुलक्खी के साथ सहानुभूति दिखाना चाहते थे और उन्हें सिवा हाड़ी को गालियां देने के और कोई ढंग न दिखाई देता था।

उधर सुलक्खी का आंगन स्त्री-पुरुषों से भरा था। और बीच में बेरी पड़ी थी। लोग कहते थे, "कितना ज़ालिम है, ज़रा-सी बात पर बेरी काट दी! काटने पर ही सबर किया होता तो भी खैर थी। अगले वर्ष फिर उग आती, परन्तु इसने तो जड़ें भी उखाड़ दीं। आदमी काहे को है, चांडाल है।"

सहसा सुलक्खी छोटा-सा घूंघट निकाले आई और आंगन में खड़ी हो गई। उसने बेरी की डालों को ज़मीन पर पड़ा देखा तो उसके दिल

पर छुरियां चल गईं। उसको ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे यह वृक्ष की डालियां नहीं उसकी सन्तान के हाथ-पांव हैं। उसने आगे बढ़कर एक-एक डाली को गले लगाया और रो-रोकर विलाप किया। इस विलाप को सुनकर लोग रोने लगे। सुलक्खी कहती थी, "अरी ! तूने मुझे बुला क्यों न लिया ? बच्ची ! पता नहीं, जब तुझपर ज़ालिम का कुल्हाड़ा चला होगा, तेरा दिल क्या कहता होगा। तड़पता होगा। सोचता होगा, मां काहे को है, डायन है। यह कसाई मेरे हाथ-पांव काट रहा है, वह बाहर घूम रही है। बच्ची ! मुझे क्या मालूम था, तेरे सिर पर मौत खेल रही है। अभी भली-चंगी छोड़कर गई थी, अभी-अभी तू बांहें फैलाकर खड़ी थी। तुझे देखकर जी प्रसन्न होता था। इतनी जल्दी तैयारी कर ली। अब तेरे बेरों को तरसेंगे, ऐसे मीठे बेर और कहां हैं ?

"तेरे बाप ने मरते समय कहा था, जब तक जीती है, इसकी रक्षा करना, और इसके बेर लोगों में बांटना। आज ये दोनों बातें असम्भव हो गईं। अब मेरा जीना वृथा है। चल दोनों एकसाथ चलें, वहां तीनों मिलकर रहेंगे।"

यह कहकर उसने बेरी की डालियों की चिता-सी चुनी। नीचे-ऊपर सूखी लकड़ियां डालकर उसपर घी डाला और आग लगा दी। आग की ज्वालाएं हवा में उठने लगीं। लोग पीछे हट गए, मगर सुलक्खी जलती हुई बेरी के पास चुपचाप खड़ी उसकी ओर देख रही थी।

सहसा वह चिता में कूद पड़ी। लोगों में हलचल मच गई। वे 'हैं-हैं' कहते हुए आगे बढ़े, परन्तु आग की ज्वालाओं ने उनका रास्ता रोक लिया। सुलक्खी आग में बैठी जल रही थी, किन्तु उसके मुख पर ज़रा परेशानी, ज़रा घबराहट न थी, बल्कि आत्मिक प्रकाश था, जैसे उसके लिए आग न थी, ठंडा जल था। इतने में आग में से आवाज़ आई, "मैं मरते समय वसीअत करती हूं कि मेरे कुल के लोग भविष्य में दान न लें।"

पुरुषों की आंखों में आंसू जारी थे। स्त्रियां फूट-फूटकर रो रही थीं,

परन्तु सुलक्खी मृत्यु के गरजते हुए शोलों में चुपचाप बैठी थी। देखते-देखते मां-बेटी दोनों जलकर भस्म हो गईं। कल दोनों जीते थे, आज कोई भी न था।

थोड़ी देर के बाद सुलक्खी का भाई लछमन और गांव के जाट लाठियां लिए हाड़ीराम को ढूंढ़ते फिरते थे। वे कहते थे, "आज उसको जीता न छोड़ेंगे। पहले मारेंगे, फिर बांधकर आग में जला देंगे।"

परन्तु हाड़ीराम जंगलों और वनों में मुंह छिपाता फिरता था। इसके बाद उसको किसीने नहीं देखा। कब मरा? कहां मरा? कैसे मरा?— यह किसीको भी मालूम नहीं।

पराजय

(पात्र)

महामाया—जसवन्तसिंह की रानी। कुलीना—जसवन्तसिंह की माता। जसवन्तसिंह—जोधपुर के राणा साहब। अचलसिंह—नगर-रक्षक।

पहला दृश्य

स्थान—जोधपुर के किले का एक कमरा।

समय—दिन के दस बजे।

(महामाया और कुलीना बातें कर रही हैं।)

महामाया—नहीं मां ! नहीं, मेरा दिल अभी तक अशान्त है। मैं कुछ नहीं कर सकती।

कुलीना—आठ दिन बीत गए हैं, परन्तु तेरा दिल अभी तक अशान्त है। यह तेरा पागलपन है।

महामाया—ठीक है, मैं ही पागल हूं। (ठंडी सांस लेकर) वह तुम्हारा बेटा है, तुम उसकी मां हो। तुम उससे क्या कह सकती हो ! और मैं पराये घर की बेटी हूं। मैं ही पागल हूं।

कुलीना—(प्यार से) मेरी बेटी ! जो कुछ भी हो, वह तेरा पति है।

महामाया—मगर वह कायर है। उसने दुश्मन को पीठ दिखाई है। वह प्राण बचाने के लिए रणक्षेत्र से भागा है। मां, ज़रा सोचो, लोग

अपने-अपने घर में हमारे बारे में क्या कहते होंगे। मेरी राजसखियां, जो मेरा भाग्य सराहती थीं, आज मेरे दुर्भाग्य पर शोक कर रही होंगी।

कुलीना—महामाया ! मेरी बच्ची !

महामाया—(भर्राई हुई आवाज़ से) अगर वह राजपूत था, अगर उसने वीर माता का दूध पिया था, अगर वह राजपूत-सिंहनी की गोद में पलकर जवान हुआ था, तो उसे चाहिए था रणभूमि में डट जाता, मृत्यु के भय को पांव-तले मसल डालता और संसार को दिखा देता कि राजपूत का बच्चा मृत्यु और जीवन दोनों को समान समझता है। मां ! मैं समझती थी, मेरा पति सूरमा है। मेरा ख्याल था, वह आदर के जीवन और आदर की मृत्यु दोनों की व्यवस्था जानता है, मगर (दीर्घ निःश्वास लेकर) हाय शोक ! यह मेरी भूल थी—वह हारकर भी अपनी और दूसरों की दृष्टि में अपमानित होकर भी ज़िन्दा रहना चाहता है।

कुलीना—मेरी बच्ची ! जोश में न आ। इससे कुछ प्राप्ति न होगी। आज्ञा दे कि किले के द्वार खोल दिए जाएं ! आठ दिन द्वार पर पड़े रहना साधारण दण्ड नहीं है।

महामाया—साधारण दण्ड नहीं है ! मां, राजपूत के बेटे के लिए हारकर भाग आना ऐसा पाप है जिसका कोई प्रायश्चित्त नहीं। कदाचित् मेरी आंखें यह दुर्दिन देखने से पूर्व सदा के लिए बन्द हो जातीं, तो मैं इसे अपना सौभाग्य समझती।

कुलीना—धीरज धर, मेरी बच्ची ! धीरज धर, तेरी जीभ के ऐसे शब्द सुनकर मेरा हृदय टुकड़े-टुकड़े हुआ जाता है।

महामाया—और अपने बेटे की वीर-घटना सुनकर तो तुम्हारी छाती हर्ष से फूल उठी होगी, क्यों ?

कुलीना—(आह भरकर) यह तू क्या कहती है मेरी बच्ची ! तू तो मुझे भली भांति जानती है। आज तू मुझे यह ताने दे रही है !

महामाया—(कुलीना के कन्धे पर सिर रखकर) मां ! क्या तुझे मेरे दुर्भाग्य पर दया नहीं आती ? राजपूत मां की कोख से जन्म लिया,

राजपूतों के वीर परिवार में ब्याही गई, और फिर भी मुझे भीरु, कायर जीवन का लोभी पति मिला ! जहां शूरवीर हर्ष से पागल हो उठता है, जहां सच्चे राजपूतों को आगे-पीछे का ध्यान नहीं रहता, उसने वहां भी अपने प्राणों को प्यारा समझा और भागकर घर में आश्रय लेने आया है। मां ! क्या सचमुच वह तेरा बेटा है ? नहीं मालूम होता है, वह तेरा बेटा नहीं है। तूने किसीका पुत्र लेकर पाल लिया है। तू बहादुर है ! तू सच्ची राजपूतनी है। तेरे दूध में यह निर्लज्जता नहीं हो सकती। वह तेरा बेटा नहीं है। वह तेरा बेटा नहीं हो सकता।

कुलीना—मेरी बच्ची ! चांद और सूरज भी ग्रहण के समय काले हो जाते हैं।

महामाया—(चौंककर) मां ! मुझे एक और ख्याल आया है। (सोचती है।)

कुलीना—(अनमनी-सी) क्या ?

महामाया—(रुक-रुककर) शायद यह राणा न हों, कोई छलिया उनके रूप में धोखा देने आया हो। वे ऐसे कायर नहीं थे। उनकी रगों में न हारनेवाली शक्ति, उनके लहू में न बुझनेवाली अग्नि, उनकी भुजाओं में न झुकनेवाली ताकत थी। मैंने उनको निकट होकर देखा है, मैंने उनका दिल पढ़ा है—वे सूरमा थे। उनको आन प्यारी थी, उनको जान प्यारी न थी।

कुलीना—(आंसू पोंछकर) मेरा भी यही ख्याल था, मेरी बच्ची !

महामाया—एक दिन कहते थे, राजपूत की कसौटी मौत है। मैंने हंसकर पूछा, अगर आप किसी दिन युद्ध-क्षेत्र से हारकर भाग आएं, तो मुझे क्या करना उचित है ? मां ! जानती हो, उन्होंने मेरे इस अपमान-सूचक प्रश्न का क्या उत्तर दिया ? अगर तुम समीप होतीं तो अपने पुत्र को गले से लगा लेतीं। उन्होंने कहा, महामाया ! अगर कभी मेरे जीवन में ऐसा अशुभ समय आ जाए, तो अपनी कटारी मेरी छाती में भोंक देना, यह मुझपर सबसे बड़ा उपकार होगा।

कुलीना—उस समय वह सच्चे राजपूत के समान बोल रहा था।

महामाया—एक दिन कहते थे, युद्ध-क्षेत्र में हार जाना लज्जा की बात नहीं, लज्जा की बात यह थी कि वीर पुरुष हारकर जीता रहे। जो वीरात्मा है, वह हार सकता है, हारकर जीता नहीं रह सकता। अपनी मां, बहन, स्त्री के सामने सिर नहीं उठा सकता। उसके लिए पराजय और मृत्यु एक ही वस्तु के दो नाम हैं।

कुलीना—मेरा बेटा सचमुच बड़ा बहादुर था। न जाने, आज उसे क्या हो गया ?

महामाया—(उन्मत्त भाव से) कुछ नहीं हुआ मां ! वे आज भी उसी तरह बहादुर हैं। वे लड़ते-लड़ते वीरगति को प्राप्त हो चुके हैं और यह नराधम, नरक का कीड़ा, जो हमारे द्वार पर पड़ा है, उनके कपड़े चुराकर और डाकुओं को लेकर हमें धोखा देने आया है।

कुलीना—(आकाश की ओर देखकर) काश, तुम्हारा ख्याल ठीक होता !

महामाया—(आश्चर्य से) ठीक होता ! तो क्या तुम्हें भी सन्देह है ? क्या तुम भी उनको इतना पतित समझती हो ? नहीं मां, नहीं। वे युद्ध में मारे जा चुके हैं, मैं अब विधवा हो चुकी हूं। नौकरों से कहिए, चिता चुन दें, मैं उनका नाम लेते-लेते सती हो जाऊंगी।

कुलीना—(महामाया को गले से लिपटाकर रोते हुए) मेरी बच्ची ! तुझे क्या हो गया है ?

महामाया—(सुनी-अनसुनी करके) वह स्वर्ग में मेरी बाट जोह रहे होंगे। झुक-झुककर नीचे की तरफ देखते होंगे। मेरे बिना घबरा रहे होंगे। आज्ञा दो मां ! (हाथ बांधकर) वे क्षात्र-धर्म का पालन कर चुके, अब मेरे नारी-धर्म का पालन करने की बारी है। (ऊंची आवाज से) मालती ! वीरा !! शक्ति !!!

(तीनों सहेलियों का सिर झुकाए हुए प्रवेश)

महामाया—(बिना उनकी तरफ देखे धीरे-धीरे) चन्दन की लकड़ियां

राजपूतों के वीर परिवार में ब्याही गई, और फिर भी मुझे भीरु, कायर जीवन का लोभी पति मिला ! जहां शूरवीर हर्ष से पागल हो उठता है, जहां सच्चे राजपूतों को आगे-पीछे का ध्यान नहीं रहता, उसने वहां भी अपने प्राणों को प्यारा समझा और भागकर घर में आश्रय लेने आया है। मां ! क्या सचमुच वह तेरा बेटा है ? नहीं मालूम होता है, वह तेरा बेटा नहीं है। तूने किसीका पुत्र लेकर पाल लिया है। तू बहादुर है ! तू सच्ची राजपूतनी है। तेरे दूध में यह निर्लज्जता नहीं हो सकती। वह तेरा बेटा नहीं है। वह तेरा बेटा नहीं हो सकता।

कुलीना—मेरी बच्ची ! चांद और सूरज भी ग्रहण के समय काले हो जाते हैं।

महामाया—(चौंककर) मां ! मुझे एक और ख्याल आया है। (सोचती है।)

कुलीना—(अनमनी-सी) क्या ?

महामाया—(रुक-रुककर) शायद यह राणा न हों, कोई छलिया उनके रूप में धोखा देने आया हो। वे ऐसे कायर नहीं थे। उनकी रगों में न हारनेवाली शक्ति, उनके लहू में न बुझनेवाली अग्नि, उनकी भुजाओं में न झुकनेवाली ताकत थी। मैंने उनको निकट होकर देखा है, मैंने उनका दिल पढ़ा है—वे सूरमा थे। उनको आन प्यारी थी, उनको जान प्यारी न थी।

कुलीना—(आंसू पोंछकर) मेरा भी यही ख्याल था, मेरी बच्ची !

महामाया—एक दिन कहते थे, राजपूत की कसौटी मौत है। मैंने हंसकर पूछा, अगर आप किसी दिन युद्ध-क्षेत्र से हारकर भाग आएं, तो मुझे क्या करना उचित है ? मां ! जानती हो, उन्होंने मेरे इस अपमान-सूचक प्रश्न का क्या उत्तर दिया ? अगर तुम समीप होतीं तो अपने पुत्र को गले से लगा लेतीं। उन्होंने कहा, महामाया ! अगर कभी मेरे जीवन में ऐसा अशुभ समय आ जाए, तो अपनी कटारी मेरी छाती में भोंक देना, यह मुझपर सबसे बड़ा उपकार होगा।

कुलीना—उस समय वह सच्चे राजपूत के समान बोल रहा था।

महामाया—एक दिन कहते थे, युद्ध-क्षेत्र में हार जाना लज्जा की बात नहीं, लज्जा की बात यह थी कि वीर पुरुष हारकर जीता रहे। जो वीरात्मा है, वह हार सकता है, हारकर जीता नहीं रह सकता। अपनी मां, बहन, स्त्री के सामने सिर नहीं उठा सकता। उसके लिए पराजय और मृत्यु एक ही वस्तु के दो नाम हैं।

कुलीना—मेरा बेटा सचमुच बड़ा बहादुर था। न जाने, आज उसे क्या हो गया ?

महामाया—(उन्मत्त भाव से) कुछ नहीं हुआ मां ! वे आज भी उसी तरह बहादुर हैं। वे लड़ते-लड़ते वीरगति को प्राप्त हो चुके हैं और यह नराधम, नरक का कीड़ा, जो हमारे द्वार पर पड़ा है, उनके कपड़े चुराकर और डाकुओं को लेकर हमें धोखा देने आया है।

कुलीना—(आकाश की ओर देखकर) काश, तुम्हारा ख्याल ठीक होता !

महामाया—(आश्चर्य से) ठीक होता ! तो क्या तुम्हें भी सन्देह है ? क्या तुम भी उनको इतना पतित समझती हो ? नहीं मां, नहीं। वे युद्ध में मारे जा चुके हैं, मैं अब विधवा हो चुकी हूं। नौकरों से कहिए, चिता चुन दें, मैं उनका नाम लेते-लेते सती हो जाऊंगी।

कुलीना—(महामाया को गले से लिपटाकर रोते हुए) मेरी बच्ची ! तुझे क्या हो गया है ?

महामाया—(सुनी-अनसुनी करके) वह स्वर्ग में मेरी बाट जोह रहे होंगे। झुक-झुककर नीचे की तरफ देखते होंगे। मेरे बिना घबरा रहे होंगे। आज्ञा दो मां ! (हाथ बांधकर) वे क्षात्र-धर्म का पालन कर चुके, अब मेरे नारी-धर्म का पालन करने की बारी है। (ऊंची आवाज से) मालती ! वीरा !! शक्ति !!!

(तीनों सहेलियों का सिर झुकाए हुए प्रवेश)

महामाया—(बिना उनकी तरफ देखे धीरे-धीरे) चन्दन की लकड़ियां

मंगाकर चिता चुन दो···मेरे सारे बढ़िया कपड़े, अनमोल आभूषण ले आओ···मैं उनसे मिलने जा रही हूं। मैं आज आग के उड़नखटोले पर सवार होऊंगी।

(सहेलियां पहले घबरा जाती हैं, फिर एक-दूसरी की तरफ देखती हैं। इसके बाद कुलीना की तरफ देखती हैं।)

कुलीना—पागल हो गई है।

महामाया—(चौंककर) कौन पागल है? (फिर स्वयं ही उत्तर देती है) वही जो मेरे पति के भेस में मुझे ठगने के लिए आया है? (कुछ देर चुप रहने के बाद) सचमुच वह पागल है, जो समझता है कि मैं भेस और शक्ल-सूरत से धोखा खा जाऊंगी। यह उसकी भूल है। मैंने पहचान लिया, यह कोई और आदमी है, यह महाराणाजी नहीं हैं। (घूमते हुए) यह महाराणाजी नहीं हैं, किसीसे पूछ लो।

कुलीना—मेरी बेटी! मेरी प्यारी बच्ची!!

महामाया—(कटार निकालकर) अच्छा, पहले चलकर उसे उसीकी कसौटी पर परख लूं। मालती! वीरा!! शक्ति!!! जाओ, जाकर दुर्ग-रक्षक से कहो, दरवाज़ा खोल दे। मैं यह कटार उसकी छाती में घोंप दूंगी। अगर राणाजी होंगे, मेरे कर्तव्य-पालन की प्रशंसा करेंगे। अगर कोई लम्पट होगा, कटार देखकर चिल्लाता हुआ भाग जाएगा। मालती! वीरा!! शक्ति!!!

शक्ति—महारानीजी! क्या आज्ञा है?

महामाया—चिता तैयार हुई या नहीं? राजपुरोहित आया या नहीं? मेरे आभूषण कहां हैं? तुम विलम्ब कर रही हो, राणाजी खफा हो रहे होंगे।

शक्ति—(कुलीना से) राजमाता! आपने देखा, इनको क्या हो गया?

कुलीना—इनको पकड़कर शयनागार में ले चलो और वैद्यराज से कहो, अभी आकर ओषधि दें! मैं अभी आती हूं।

(सहेलियों का महामाया को सहारा देकर ले जाना और अचलसिंह का प्रवेश)

कुलीना—अचलसिंह ! कोई नवीन समाचार है ?

अचलसिंह—रात चार घायल सिपाही और मर गए। महाराणा के ज़ख्म अभी तक नहीं भरे।

कुलीना—महाराणा क्या महामाया से बहुत नाराज़ हैं ?

अचलसिंह—नाराज़ नहीं, उदास हैं। उनको अपने ऊपर क्रोध है। कल कई घण्टे रोते रहे हैं, उनको सारी रात नींद नहीं आई। अगर आज्ञा हो तो किले का दरवाज़ा खोल दिया जाए। आखिर कब तक बाहर पड़े रहेंगे ?

कुलीना—मैं क्या कर सकती हूं, महामाया नहीं मानती।

अचलसिंह—आप जो चाहें, कर सकती हैं। किले में कौन है, जो आपकी आज्ञा न माने !

कुलीना—महारानी महामाया है, मैं कुछ नहीं कर सकती।

अचलसिंह—आप राजमाता हैं, आप सब कुछ कर सकती हैं।

कुलीना—राजमाता बीते हुए कल की रानी है। आज की रानी महामाया है, उसके सम्मुख मैं भी सिर नहीं उठा सकती।

अचलसिंह—मगर उन्होंने भी आपकी किसी बात का विरोध नहीं किया।

कुलीना—यह उसकी कृपा है।

अचलसिंह—सामन्तों की सम्मति है, आप उनको विवश करके दरवाज़ा खुलवा दें।

कुलीना—यह मेरी भूल होगी।

अचलसिंह—तो फिर क्या आज्ञा है ?

कुलीना—(सोचकर) महामाया को होश आ जाए, तो मैं उससे पूछूंगी। इस समय तुम जाओ, दो-तीन घण्टे बाद आना।

दूसरा दृश्य

स्थान—उसी किले का दूसरा कमरा

समय—दोपहर

(महामाया एक पलंग पर लेटी है, पास सहेलियां वीरा, शक्ति, मालती बैठी हैं। सिर की तरफ दवा की शीशियां रखी हैं। महामाया चुपचाप छत की तरफ देख रही है। उसके कपोलों पर आंसू बह रहे हैं। सहेलियां रूमाल से आंसू पोंछ रही हैं।)

शक्ति—महारानी ! रोने से क्या हो जाएगा ? धीरज धरिए। यह साधारण बात है।

महामाया—(ठण्डी आह भरकर) शक्ति ! यह साधारण बात नहीं है। मुझसे मेरा गौरव छिन गया। मेरे हृदय में जो उनके लिए श्रद्धा थी, वह जाती रही। मैं अपनी दृष्टि में आप गिर गई, यह साधारण बात है !

शक्ति—मगर महारानी ! युद्ध में हार-जीत दोनों की संभावना है। किसी न किसीको हारना पड़ेगा। दोनों नहीं जीत सकते।

महामाया—हार की सम्भावना है, मगर हारकर मां की गोद में भाग आने की संभावना नहीं है, और वह भी एक राजपूत के लिए। ओह शक्ति ! तुम नहीं जानतीं, मेरा रुधिर जल रहा है। जी चाहता है, किले की सब स्त्रियां चलें और दीवार पर से तीर बरसा-बरसाकर उन भगोड़ों का काम तमाम कर दें। उनको पता लग जाए कि जब राजपूत युद्ध में हारकर घर को लौटते हैं तो उनकी स्त्रियां, उनकी बहनें, उनकी माताएं उनका स्वागत किस तरह करती हैं। जी चाहता है, हम उनको बता दें कि ऐ नामर्दो ! तुमने अपना कर्तव्य भुला दिया है, मगर तुम्हारे घर की देवियों में यह भाव अभी तक ज़िन्दा है। (जोश से उठकर बैठ जाती है।) जी चाहता है, हम उनको बता दें कि जो राजपूत युद्ध से भागकर घर की तरफ भागता है, उनके घर की स्त्रियां उसकी गर्दन के

लिए उसके घर के दरवाज़े पर नंगी तलवार लेकर खड़ी हो जाती हैं।

शक्ति—(लिटाते हुए) लेट जाइए ! आपके लिए यह जोश हानिकारक है।

महामाया—परन्तु उस कायर के लिए हानिकारक नहीं है। (थोड़ी देर के बाद) ! वीरा ! क्या दुर्गरक्षक ने दरवाज़ा खोल दिया ?

वीरा—आपकी आज्ञा का उल्लंघन कौन कर सकता है ?

महामाया—यह मेरी आज्ञा न थी, मांजी का आदेश था, वर्ना मैं उनको दरवाज़ा कभी न खोलती। (एकाएक चिल्लाकर) वीरा ! शक्ति!! मालती !!! उठो, दौड़कर जाओ। दुर्ग-रक्षक से कहो, दरवाज़ा न खोले, मैंने अपनी सम्मति बदल दी है।

मालती—दरवाज़ा खुल चुका, वे कभी के अन्दर आ चुके।

महामाया—अब भी जाओ, मेरा मुंह क्या देख रही हो ? (मिन्नत से) अब भी जाओ और उन सब भगोड़ों को धक्के मार-मारकर किले से बाहर निकाल दो, वर्ना इस पवित्र देश की पावन भूमि अपवित्र हो जाएगी।

(एकाएक कुलीना का प्रवेश)

कुलीना—नहीं, मेरी बहादुर बच्ची ! तेरे किले के अन्दर आकर उसकी सोई हुई आत्मा जाग उठेगी।

महामाया—मां, तूने क्या कहा ? (उठकर सास के गले से लिपट जाती है।) फिर कहो, मां ! फिर कहो, उनकी सोई हुई आत्मा जाग उठेगी। मैं इस एक क्षण के लिए अपना सर्वस्व लुटा देने के लिए तैयार हूं। मैं अपना राज दे सकती हूं, मैं अपना जीवन दे सकती हूं, मैं अपने जीवन को जीवन के उल्लास और प्रकाश से खाली कर सकती हूं, किसी तरह उनकी आत्मा जाग उठे। वे फिर से वैसे ही वीर, वैसे ही निर्भय बन जाएं। मैं और कुछ नहीं चाहती।

कुलीना—तुम मुझपर विश्वास करो, मैं उसको सचेत कर दूंगी।

महामाया—मैं आपके कहने पर मरने को भी तैयार हूं।

कुलीना—(बात का रुख बदलकर) तुमने दवा पी या नहीं ?

महामाया—(सिर झुकाकर) अभी नहीं।

कुलीना—मालती ! दवा दो, यह पगली आत्महत्या करने पर तुली हुई है।

(मालती दवा पिला देती है।)

अब जसवन्तसिंह आ रहा है, उसका अपमान न करना। थका हुआ है, घायल है, कई रातों का जगा हुआ है। हारकर आया है, क्रोध में होगा। दरवाज़े पर पड़ा रहा है, लज्जित होगा। तुम्हारे कटु वचनों से और भी बिगड़ जाएगा। तुम्हारी दो मीठी बातों से उसे सारे कष्ट भूल जाएंगे।

महामाया—(बेबसी से) मां ! मुझे कतल कर दो, मगर यह न कहो, मुझसे यह न होगा। मेरे हृदय में घृणा की आग जल रही है।

कुलीना—आज सायंकाल से पहले-पहले वह फिर लड़ने को चला जाएगा। (महामाया के सिर पर स्नेह से हाथ फेरकर) वह स्वभाव से योद्धा है, यह क्षणिक जीवन-प्रेम का भाव ज़्यादा देर तक स्थिर नहीं रह सकता।

महामाया—(आशापूर्ण स्वर से) आज सायंकाल से पहले-पहले फिर लड़ने को चले जाएंगे, यह कौन कहता है ?

कुलीना—मैं।

महामाया—आप इन शब्दों का अर्थ समझती हैं ?

कुलीना—मैंने आज तक कभी झूठ नहीं बोला।

महामाया—(हाथ बांधकर) मेरा अपराध क्षमा हो, मेरा तात्पर्य यह कभी न था।

कुलीना—चलो लड़कियो ! यह कमरा खाली कर दो। (सहेलियों का चला जाना।) ले मेरी बच्ची ! वह आ रहा है, उससे अच्छी तरह पेश आना, और कहना, रसोईघर में चलिए, मेरी श्रद्धा है, अपने हाथ से हलवा बनाऊं और आपको अपने सामने बैठाकर खिलाऊं।

महामाया—मैं हलवा बनाकर खिलाऊंगी ! नहीं, यह मुझसे न होगा मां !

कुलीना—यह उसके मानसिक रोग की अमोघ ओषधि है।

महामाया—(आश्चर्य से) हलवा !

कुलीना—यह हलवा उसके गले के नीचे न उतरेगा। वह इसे केवल एक बार देखेगा और घोड़े पर चढ़कर किले से बाहर निकल जाएगा। मैं उस भूले हुए शेर बच्चे को शीशे के सामने ले जाकर उसका मुंह दिखा देना चाहती हूं।

महामाया—फिर इस हलवे का क्या होगा ?

कुलीना—पुत्र के पुनरुत्थान के उपलक्ष्य में किले की स्त्रियों में बांटा जाएगा।

(कुलीना हंसकर चली जाती है।)

महामाया—भगवान उनकी आंखें खोल दे, नहीं मेरा जीवन मेरे लिए असह्य हो जाएगा।

(महाराणा जसवन्तसिंह धीरे-धीरे प्रवेश करते हैं। उनके सिर और भुजाओं पर पट्टियां बंधी हैं, मुंह का रंग पीला है, आंखों में लज्जा है। पति और पत्नी दोनों एक-दूसरे की ओर देखते हैं और चुप रहते हैं। इसके बाद राणा पलंग पर बैठ जाते हैं, महामाया पास आ जाती है।)

जसवन्तसिंह—(ज़मीन की ओर देखते हुए) महामाया ! यह पराजय जीवन-भर न भूलूंगा।

महामाया—(तीखी दृष्टि से देखकर) खैर, यह साधारण बात है। प्राण बच गए, यही बड़ी बात है। प्राण-रक्षा राजपूत का सर्वप्रथम धर्म है।

जसवन्तसिंह—मैंने अपनी तरफ से पूरा-पूरा यत्न किया, परन्तु मेरी कोई पेश न गई।

महामाया—सत्य है, असहाय मनुष्य क्या कर सकता है ?

जसवन्तसिंह—(महामाया की बात को न समझकर ज़रा साहस से)

मनुष्य प्रारब्ध के हाथ का खिलौना है। वह उसे जिधर चाहती है, उठाकर फेंक देती है।

महामाया—मनुष्य की इससे अच्छी परिभाषा मैंने आज तक नहीं सुनी। कहिए, ज़ख्मों का क्या हाल है ?

जसवन्तसिंह—इससे तुम्हें क्या ? तुमने अपनी तरफ से मेरा अपमान करने में कोई कोर-कसर नहीं उठा रखी।

महामाया—आपने भूल की, आपको आगे न बढ़ना चाहिए था। लड़ने के लिए सेना होती है, सेनापति को पीछे रहना चाहिए। उसका संकट में पड़ना उसकी मूर्खता है।

जसवन्तसिंह—(क्रोध से) मालूम होता है, तुम मेरी हंसी उड़ा रही हो।

महामाया—राम, राम ! मुझमें यह साहस कहां कि आप जैसे विश्व-विजयी की हंसी उड़ा सकूं।

जसवन्तसिंह—तुम्हें मालूम होना चाहिए कि मैं तुम्हारा पति हूं, और जोधपुर का महाराणा हूं।

महामाया—(तिलमिलाकर) आपको भी मालूम होना चाहिए कि मैं वीर पिता की बेटी हूं, और मुझे निर्लज्जतापूर्ण जीवन से घृणा है।

जसवन्तसिंह—तो क्या तुम चाहती हो कि मैं वहां मर जाता ?

महामाया—यह मेरे और मेरे कुल के लिए गौरव की बात होती।

जसवन्तसिंह—मुझे यह पता न था कि तुम्हें विजय इतनी प्यारी है।

महामाया—मुझे विजय नहीं, आन प्यारी है। आन के सामने सारे संसार को तुच्छ समझती हूं।

जसवन्तसिंह—घर में बैठी बातें करती हो, एक बार युद्ध में चली जाओ तो होश ठिकाने आ जाएं।

महामाया—पहले पुरुष चूड़ियां पहन लें, फिर स्त्रियां घर में रह जाएं, तो नाक कटा दूं।

(कुलीना का हंसते हुए प्रवेश)

कुलीना—(महामाया को आंख से इशारा करके) क्यों बेटी ! आते ही वाक्-युद्ध प्रारम्भ कर दिया। तुम अभी मूर्ख हो। उठो, रसोईघर में चलकर अपने हाथ से हलवा बनाओ। मेरा बेटा समर से जीता लौटा है। आज मैं अत्यन्त प्रसन्न हूं।

जसवन्तसिंह—मां ! तुमने सुना, यह स्त्री अभी-अभी क्या कह रही थी ? जी चाहता है···।

कुलीना—बेटा ! शान्त हो। यह तो गंवार है। तू चलकर रसोई में बैठ।

जसवन्तसिंह—नहीं, मां, मैं इसके साथ वहां कभी न जाऊंगा। उफ्! कितनी हृदयहीन है, कहती है···

महामाया—(तड़पकर) क्या कहती हूं ?···

कुलीना—(बात काटकर) चुप बहू, मैं आज के दिन तुम्हारा यह झगड़ा नहीं देख सकती। उठो, चलकर रसोई में बैठो। मगर सावधान, कोई लड़ाई-झगड़े की बात न करे। आज खुशी का दिन है।

तीसरा दृश्य

स्थान—उसी महल का रसोईघर

समय—दोपहर

(महामाया हलवा बना रही है। महाराणा किसी गहरी चिन्ता में निमग्न सामने बैठे हैं। महामाया उनकी तरफ देखती है और उसकी आंखों से चिनगारियां निकलने लगती हैं। साफ मालूम होता है कि उसके हृदय में उथल-पुथल मच रही है।)

महाराणा—सिपाहियों की मरहम-पट्टी हो रही है क्या ?

महामाया—(रुखाई से) हो रही होगी ? मैंने आज्ञा दे रखी है।

महाराणा—(थोड़ी देर चुप रहने के बाद) देखता हूं, तुम्हारा क्रोध

अभी तक नहीं उतरा।

महामाया—(भुने हुए आटे में चीनी की चाशनी डालते हुए) उतरे या न उतरे, इसकी आपको क्या परवाह है ?

महाराणा—तुम्हारे क्रोध की मुझे परवाह नहीं तो और किसे है ? मैंने अपनी अनुपस्थिति में किले का सारा भार तुम्हारे सुपुर्द कर दिया था। तुमने आदेश किया, हम द्वार पर रोक दिए गए। यह मेरा घोर अपमान था, मगर मैंने तुमसे एक शब्द भी नहीं कहा, क्योंकि मैं तुम्हारी नेकनीयती स्वीकार करता हूं। तुम फिर भी कहती हो, मुझे तुम्हारी परवाह नहीं ! (हंसकर) चलो, अब जाने दो। जो हो गया, सो हो गया। और यह कोई ऐसी बात नहीं, जिसके लिए···

महामाया—(कड़ाहे में कड़छा मारते हुए) आपके लिए यह साधारण बात होगी। मेरे लिए यह दिन मेरे जीवन का सबसे बुरा दिन है।

महाराणा—(तेज़ होकर) तो आखिर तुम क्या चाहती थीं ? मैं मर जाता तो तुम खुश हो जातीं ?

महामाया—कायरों के लिए मरना बड़ा कठिन है। वह मौत को देखकर दूर ही से भाग निकलते हैं।

(चूल्हे में लकड़ी झोंकती है।)

महाराणा—महामाया ! तुम्हारा एक-एक शब्द विष में बुझा हुआ तीर है।

महामाया—युद्ध से भागकर आए हुए लोगों को मीठे वचन सुनने का कोई अधिकार नहीं।

(फिर हलवा बनाने में लीन हो जाती है।)

महाराणा—महामाया ! महामाया !

महामाया—(कपड़े से कड़ाहे के दोनों सिरे पकड़कर) मीठे वचन नहीं तो क्या हुआ, मीठा हलवा तो है। यह पराजय का पुरस्कार है, पेट-भर खाइए। (कड़ाहा नीचे उतारकर पति के मुंह की तरफ देखती है।) एक दिन वह था, जब इज़्ज़त की बाज़ी हारकर राजपूत किसीको मुंह

न दिखा सकता था। आज समय कितना बदल चुका है। माता प्रसन्न होती है, स्त्री हलवा बनाती है और भागा हुआ पति रसोई में बैठकर मीठी-मीठी बातें सुनना चाहता है। उसे यह बात भूल गई है कि युद्ध के अवसर पर विलासिता की बातें करना देश और जाति के लिए महान पाप है।

(कड़छा लेने के लिए इधर-उधर देखती है।)

महाराणा—मैं चाहता हूं, तुम पुरुष होतीं।

महामाया—मैं चाहती हूं, आप स्त्री होते।

(कड़ाहे में जोर-जोर से कड़छा चलाती है, इसकी आवाज़ सुनकर कुलीना घबराई हुई प्रवेश करती है।)

कुलीना—महामाया! यह काहे कि आवाज़ है—यह तुम क्या कर रही हो?

महामाया—(आश्चर्य से) कड़ाहे में कड़छा चला रहा हूं, मांजी!

कुलीना—अरी बेटी! कड़छा बाहर निकाल, नहीं अन्धेर हो जाएगा।

महामाया—(और भी चकित होकर) मां! इससे क्या अन्धेर हो जाएगा, मैं कुछ भी नहीं समझी।

(महामाया थाल में हलवा डाल देती है।)

कुलीना—काहे को समझोगी? जैसे तुम अभी दूध-पीती बच्ची हो, जैसे कुछ जानती ही नहीं। क्या तुम्हें मालूम नहीं कि लोहे से लोहा बजता देखकर मेरा बेटा मेरी गोद में छिपने के लिए यहां भागकर आया है। क्या तुम उसे यहां से भी भगाना चाहती हो? बेटी! अब वह कहां जाएगा, यहां से भागकर उसे आश्रय का स्थान कहां मिलेगा—परमेश्वर के लिए यह लोहे का कड़छा बाहर फेंक दो। कहीं ऐसा न हो, वह फिर लोहे के कड़ाहे से टकरा जाए, और मेरा बेटा डरकर यहां से भी भाग निकले, फिर मैं क्या करूंगी?

(महामाया का मुंह चमकने लगता है, मगर वह अपनी खुशी छिपाती है और हलवे से थाल भरकर पति के सामने रख देती है। महाराणा कुछ

देर चुप रहते हैं, इसके बाद थाल को परे सरका देते हैं, और जोश से तन-कर खड़े हो जाते हैं।)

महाराणा––बस कर, मां, बस कर ! तूने मेरी आंखें खोल दी हैं, तूने मुझे जगा दिया है, तूने मुझे अंधेरे से निकालकर ज्योति और जीवन के पथ पर डाल दिया है। कितनी लज्जा और शोक की बात है कि राजपूत का बच्चा पराजित होकर भाग आए। भगवान जाने, मुझे क्या हो गया था। मुझे वहीं कट मरना चाहिए था। परन्तु––

(महामाया पति की तरफ श्रद्धापूर्ण प्रेम से देखती है।)

तुम्हारा कहा-सुना व्यर्थ नहीं गया। मैं अपनी कायरता के लिए तुमसे क्षमा मांगता हूं।

कुलीना––बेटा ! तू अब फिर वही निर्भय, युद्धवीर, साहसी जसवन्त-सिंह है; जिसने मेरा दूध पिया था; जिसने मेरे कुल का नाम उज्ज्वल करने का व्रत लिया था, जिसके मुंह की ओर देखकर मेरी मुरझाई हुई आशाएं हरी हो जाती हैं। महामाया खुश हो, तेरा स्वामी अपनी पराजय के काले दाग को मिटाने के लिए खड़ा हो गया है।

महामाया––यह सब आपकी ही कृपा है।

महाराणा––मां ! मुझे तुझपर भी गौरव है और इसपर भी गौरव है। तुम दोनों ने मिलकर मेरी आंखें खोल दी हैं। हमारी आनेवाली सन्तान यह सुनकर खुशी से पागल हो जाएगी कि उनका एक पूर्वज पराजित होकर घर आया, तो उनकी पत्नी ने उसे घर के अन्दर आने की आज्ञा न दी। राष्ट्रीय गौरव और अभिमान का ऐसा उज्ज्वल, ऐसा सजीव, ऐसा ओजमय दृष्टान्त मानव-जाति के इतिहास में किसीने कम देखा होगा। इससे भारत-वर्ष को अपना सिर ऊंचा उठाने का अवसर मिलेगा। यह मेरा परम सौभाग्य है कि मुझे ऐसी धर्मपरायणा स्त्री मिली, जिसको मेरी मर्यादा, मेरे प्राणों से भी प्यारी है।

महामाया––(सिर झुकाकर धीरे से) मां, इनसे कहो, मेरा अपराध क्षमा कर दें।

महाराणा—तेरा अपराध हमारे कुल का सबसे बड़ा गौरव है। (मां की तरफ देखकर) मगर मां ! मैं राजपूत हूं और राजपूत इतना आत्म-गौरव-रहित कभी नहीं होता। मुझे बता, इस कायरता का मूल कारण क्या है ?

कुलीना—यह तेरा नहीं, मेरा दोष है। (दोनों चौंक पड़ते हैं। कुलीना धीरे-धीरे कहती है, जैसे कोई भूली हुई घटना याद कर रही है।) यह उन दिनों की बात है, जब तेरी आयु केवल दो वर्ष की थी। एक दिन मैं भोजन बना रही थी और तेरे पिताजी इसी रसोईघर में इसी स्थान पर बैठे खा रहे थे। एकाएक तू रो-रोकर दूध के लिए मचलने लगा। मैंने सोचा, मेरी देह गर्म है। अगर तूने दूध पिया तो बीमार हो जाएगा, इसलिए मैंने दासी से कहा, इसे बाहर ले जाकर चुप करा। मगर तू बराबर रोता रहा।

(महामाया पति की ओर कनखियों से देखती है और मुस्कराती है।)

महाराणा—फिर ?

कुलीना—दासी ने तुझे चुप कराने के लिए अपना दूध पिला दिया। आध घण्टे बाद मुझे यह बात मालूम हुई तो मैंने तेरे गले में उंगली डालकर कै करा दी; परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि दूध की दो-एक बूंदें फिर भी तेरे पेट में रह गईं। दासी के दूध की वे बूंदें आज इस पतन के रूप में प्रकट हुई हैं। यह तेरा दोष नहीं, उसी दूध का प्रभाव है।

महाराणा—अस्तु, जो कुछ भी हो, इस कायरता के कलंक को अपने लहू से भी धोने को तैयार हूं, अब तुमको यह शिकायत न रहेगी। कोई है, मेरी तलवार और कवच लाओ और सेना से कहो, तैयार हो जाए।

कुलीना—देवता वह दिन दिखाएं, जब मेरा बेटा विजय-पताका उड़ाता हुआ घर आए।

(कुलीना चली जाती है। महामाया धीरे-धीरे आकर महाराणा के पास खड़ी हो जाती है। फिर सिर उठाकर उनकी तरफ देखती है। फिर

मुस्कराती है और फिर अपनी भुजाएं उनके गले में डाल देती है।)

महामाया—आपने मेरा अपराध क्षमा किया ?

महाराणा—(महामाया को गले से लिपटाकर) तुम्हारा अपराध मेरे जीवन की सबसे बड़ी सम्पत्ति है। महामाया, तुमसे रुष्ट होने का यह अर्थ है कि मुझ-सा मूर्ख मेरे राज्य में कोई नहीं है। तू स्त्री नहीं हीरा है। मेरी दृष्टि में तू इतनी पवित्र, इतनी उज्ज्वल कभी न थी। (थोड़ी देर बाद) देवी ! अब आज्ञा दो, सेना तैयार होगी।

महामाया—इतनी जल्दी ! क्या आप कल नहीं जा सकते ? एक दिन विश्राम कर लीजिए।

(महाराणा की तरफ प्यार से देखती है, और अपना सिर उनके कन्धे पर रख देती है।)

महाराणा—(मुस्कराकर) युद्ध के अवसर पर विलासिता की बातें करना देश और जाति के लिए महान पाप है।

महामाया—(चौंक उठती है।) अच्छा, हलवा तो खा लीजिए, (लजाकर) आपकी प्यारी महामाया ने आपके लिए अपने हाथ से बनाया है।

महाराणा—(फिर महामाया के शब्द दोहराते हैं।) क्या यह पराजय का पुरस्कार है ? (मुस्कराकर) मैं कैसा भाग्यवान हूं कि हारकर भी ऐसी मीठी चीज़ें मिल रही हैं। महामाया ! तूने मेरी आंखें खोल दी हैं, तूने मुझे सीधा मार्ग दिखा दिया है, तूने मुझे भूला हुआ कर्तव्य स्मरण करा दिया है। अब वही तू मेरे सामने अपना असीम प्रेम और हृदयग्राही मुस्कान लेकर क्यों खड़ी हो गई ? यदि अब मुझमें फिर निर्बलता आ गई, तो यह मेरा नहीं, तेरा दोष होगा। (ठहरकर) तो मेरे हृदय की रानी ! अब आज्ञा है ? जाऊं ?

महामाया—हां प्राणनाथ ! जाइए और विजय के डंके बजाते हुए आइए। वहां समर-स्थल में मेरा प्रेम आपकी रक्षा करेगा।

(महाराणा का तेज़ी से चले जाना)

महामाया—(उदास होकर) चले गए। मैंने उनको ताने दे-देकर फिर भेज दिया ! (आसमान की तरफ देखकर) प्रभु ! उनकी रक्षा करो। जिस तिरह खुश-खुश गए हैं, उसी तरह खुश-खुश वापस आएं।

(कुलीना का प्रवेश)

कुलीना—वीरवधू ! तू अब यहां खड़ी क्या सोच रही है ? पगली ! उदास हो गई ! नहीं, तुझे यह उदासी, यह हृदय की निर्बलता नहीं सुहाती। तू सबला है, तेरा पति सच्चा वीर है। चल उठ, यह हलवा सिपाहियों के घरों में बांट आएं। इसके बाद सेना को विदा करना है।

◇◇◇

PK
2098
S8A15

Sudarsan
Sudarsana-sumana

[redacted]

PLEASE DO NOT REMOVE
CARDS OR SLIPS FROM THIS POCKET

UNIVERSITY OF TORONTO LIBRARY

UTL AT DOWNSVIEW
D RANGE BAY SHLF POS ITEM C
39 13 10 06 04 009 9